पंचम अध्याय

Chapter-5

पुष्टिमार्गीय कृष्णभक्ति काव्य पर बौद्ध धर्म का प्रभाव

1: पुष्टिमार्ग का संक्षिप्त परिचय :

जैसा हम पहले कह चुके हैं इस अध्याय में पुष्टिमार्गी कृष्णभक्ति काव्य पर बौद्ध धर्म का प्रभाव देखना काम्य है, किन्तु उससे पूर्व पुष्टिमार्ग के संस्थापक प्रमुख कवि एवं उनकी रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दे देना प्रासंगिक होगा ।

संस्थापक : आचार्य वल्लभ द्वारा स्थापित "पुष्टिमार्ग मध्यकाल में कृष्ण-भक्ति का सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं प्रभावशाली सम्प्रदाय था । वल्लभाचार्य का जन्म संवत् 1535 वि0 में वैशाखमास में हुआ था । वे दक्षिण भारतीय तैलंग ब्राम्हण थे । इनकी माता का नाम इल्लमा तथा पिता का नाम लक्ष्मण भट्ट था । बाल्यकाल में ही वे वेद-वेदांग-पुराण आदि ग्रन्थों का अनुशीलन कर चुके थे । पिता के गोलोकवास के बाद माता के साथ विजयनगर मामा के घर इन्होंने प्रस्थान किया । पुनः काशी में आकर विधाध्ययन किया व ब्रह्म ज्ञान के शास्त्रों का पारायण करने के बाद अपनी माता की आज्ञा से देश की यात्रा प्रारम्भ की । प्रथम यात्रा में विधानगर (विजयनगर) में इन्होंने वहाँ के राजा कृष्णदेव के दरबार में पण्डितों की सभा में शंकर के मायावाद का खण्डन किया और इस घटना के उपरान्त विष्णु स्वामी सम्प्रदाय के प्रचारक भक्त हरिस्वामी तथा शैब स्वामी द्वारा इन्हें विष्णु स्वामी की उच्छिन्न गद्दी पर आचार्य बनाया गया । इनके समस्त उपलब्ध ग्रन्थों का विषय शंकर वेदान्त के मायावाद का खण्डन और अपने मत ब्रह्मवाद अविकृत परिणामवाद तथा शुद्धाद्वैतवाद का प्रतिपादन और प्रेमभक्ति के सिद्धान्तों का कथन है ।[1]

संवत् 1549 वि0 में वे ब्रज आये और इन्होंने गोवर्द्धन से श्रीनाथजी के स्वरूप को निकालकर वहीं उन्हें एक छोटे मन्दिर में स्थापित किया । 28 वर्ष की अवस्था

1- डॉ0 दीनदयालु गुप्त, अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय - प्र0 भाग - पृ0 73

में उनका विवाह हुआ । अडैल में संवत् 1567 वि0 को आचार्य जी के जेष्ट पुत्र श्री गोपीनाथ जी का, तथा संवत् 1572 वि0 में दूसरे पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी का जन्म हुआ । संवत् 1587 वि0 में आचार्य जी का काशी गंगा प्रवाह अवस्था में गोलोकवास हुआ । इस समय वे 52 वर्ष के थे ।[1]

पुष्टिमार्ग, जिसमें भगवान अपने में कर्मणा मनसा-वाचा आत्म समर्पण शील जीवों को अपनी कृपा द्वारा कृतार्थ कर देते हैं । अत: यह मार्ग सब जीवों के लिए, वर्ण जाति, देश किसी भी भेदभाव के बिना सर्वदा तथा सर्वथा उपयोगी है । श्रीकृष्ण ही परम ब्रह्म हैं जो दिव्य गुणों से सम्पन्न होकर पुरूषोत्तम कहलाते हैं । आनन्द का पूर्ण आविर्भाव इसी पुरूषोत्तम रूप में होता है । अत: यही श्रेष्ठ रूप है । पुरूषोत्तम कृष्ण की सब लीलाएँ नित्य हैं । वे अपने भक्तों के लिए "व्यापी वैकुण्ठ" में ‡जो विष्णु के वैकुण्ठ से ऊपर है‡ अनेक प्रकार की क्रीडाएं करते हैं । गोलोक इसी "व्यापी वैकुण्ठ" का एक खण्ड है, जिसमें नित्य रूप में यमुना, वृन्दावन, निकुंज इत्यादि सब कुछ है । भगवान की इस नित्य लीला-सृष्टि में प्रवेश करना ही जीव की सबसे उत्तम गति है ।[2] "लीला" विलास की इच्छा का नाम है । कार्य के बिना ही यह व्यापार मात्र होता है । इस कृति के द्वारा बाहर कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं किया जाता । उत्पन्न किए गये कार्य में किसी प्रकार का अभिप्राय नहीं रहता, कोई कार्य उत्पन्न हो गया हो तो होता रहे । इसमें न तो कर्ता का कोई उद्देश्य रहता है न कर्ता में किसी प्रकार का प्रयास उत्पन्न होता है । लीला की अभिव्यक्ति अंत:करण में पूर्ण आनन्द के उदय को सूचित करती है । उसी के उल्लास से कार्योत्पत्ति के समान कोई क्रिया उत्पन्न होती है । यही भगवान ‡श्रीकृष्ण‡ की लीला है । सर्ग-विसर्ग आदि जिस प्रकार भगवान पुरूषोत्तम की लीलाएं हैं, उसी प्रकार भक्ति, अनुग्रह या पुष्टि भी भगवान की लीला है ।[3]

1- दे0 डॉ0 दीनदयालु गुप्त, अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय - प्र0भाग - पृ0 73 पर

2- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ0 143

3- आचार्य बलदेव उपाध्याय - भागवत् सम्प्रदाय - पृ0 386

मर्यादा मार्ग में भगवान साधन परतंत्र रहता है, स्वतंत्र नहीं । क्योंकि इस मार्ग में भगवान को अपनी बंधी हुई मर्यादाओं की रक्षा करना अभिष्ट होता है । पुष्टिमार्ग में वह किसी साधन का परतंत्र न होकर स्वतंत्र होता है । अनुग्रह भी भगवान की लीला का अन्यतम विलास है ।[1] अत: पुष्टिमार्ग में आचार्य वल्लभ प्रेमसाधना के अन्तर्गत लोक व वेद दोनों प्रकार की मर्यादाओं के त्याग को विधेय ठहराते हैं ।

वल्लभ सम्प्रदाय में प्रविष्ट होना ब्रह्मसम्बन्ध कहलाता है, इसमें गुरू "अष्टाक्षर मंत्र" सुनाता है, जिसे नाम निवेदन कहते हैं - और शिष्य तन - मन - धन सर्वस्व कृष्ण को अर्पण करता है । छीतस्वामी (अष्टछाप की परम्परा में आने वाले एक भक्त-कवि) ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि गोसांई श्री विट्ठल नाथ जी (श्री वल्लभाचार्य के सुपुत्र) ने मुझे अन्य मार्ग छोड़कर भक्तिमार्ग में रूचि दिलाकर श्रीमद्भागवत् केअनुसार भगवान को सर्वस्व समर्पण करने की शिक्षा दी -

"अपथ मारग तजि भक्ति मारग रूचि श्री गिरिबर धर दिखाई ।
तन-मन-प्रान समर्पन कीनों श्री भगवान विधि नई सिखाई ।।[2]"

आत्मा और परमात्मा में शुद्ध अद्वैत भाव मानने के कारण और ब्रह्म को अद्वैत, माया से अलिप्त अर्थात् नितान्त शुद्ध मानने के कारण वल्लभाचार्य का मत "शुद्धाद्वैत" के नाम से जाना जाता है । इस प्रकार वल्लभाचार्य का पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय शुद्धाद्वैत का प्रतिपादक है । पुष्टि या पोषण भगवान की कृपा को (अथवा अनुग्रह को) कहते हैं - पोषणं तदनुग्रह: । जीव जब तक भगवान की कृपा अथवा पुष्टि को प्राप्त नहीं करता, तब तक वह आनन्द की प्राप्ति नहीं कर सकता । वल्लभ आचार्य जी द्वारा प्रचारित कृष्ण-भक्ति, प्रेम तथा आत्मसमर्पण की भक्ति है । जो व्यक्ति ईश्वर को सब कुछ मानता है तथा स्वयं को उससे विकीर्ण

1- आचार्य बलदेव उपाध्याय - भागवत् सम्प्रदाय - पृ0 386

2- छीतस्वामी, जीवनी और पद संग्रह
(अष्टछाप स्मारक समिति कांकरोली) पद - 188

मानता है, और जो उसकी प्रेमपूर्वक सेवा करता है वही भक्त कहलाता है ।[1] इस प्रेम साधना में लोक अथवा वेद मर्यादा का त्याग विधेय है । पुष्टिमार्गीय सम्प्रदाय के अन्तर्गत अनुयायियों के लिए साधन किसी भी स्तर पर भक्ति को निर्धारित नहीं कर सकते, क्योंकि भक्ति भगवद्अनुग्रह से उत्पन्न होती है - पुष्टिमार्गे वरणमेव साधन ।[2]

प्रमुख भक्त एवं कवि और उनका साहित्य : वल्लभाचार्य द्वारा इस सम्प्रदाय की स्थापना के उपरान्त अनेक लोगों ने इस सम्प्रदाय में प्रवेश पाया । इस सम्प्रदाय के आराध्य प्रमुख रूप से श्री कृष्ण हैं । कृष्ण की लीलाओं का गान, इसी सम्प्रदाय में अष्टछाप के नाम से प्रसिद्ध हुए आठ भक्तों ने विशेष रूप से किया । इन आठों भक्त-कवियों का कृष्ण-भक्ति साहित्य में अपना विशेष योगदान रहा । इनके नाम इस प्रकार हैं -

(1) सूरदास (2) परमानन्ददास, (3) नन्ददास, (4) कुम्भनदास
(5) कृष्णदास, (6) चतुर्भुजदास, (7) गोविन्दस्वामी तथा
(8) छीतस्वामी ।

जिनका संक्षिप्त परिचय आगे दिया जा रहा है । अष्टछाप के कवियों की जीवन सामग्री का मुख्य सूत्र वल्लभ सम्प्रदायी वार्ता है उसी आधार पर यहाँ उल्लेख किया जा रहा है ।

सूरदास : अष्टछाप के कवियों में सूरदास का नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है । माना जाता है कि वे जन्मान्ध थे । हरिराय जी कृत भाव प्रकाश वाली वार्ता तथा अन्य प्रमाणों के आधार पर इनका जन्म संवत् 1535 वैशाख शु. 5 दिल्ली के पास सीही ग्राम में हुआ । कांकरोली की सं0 1697 की निज वार्ता की प्रति में पत्र 36 पर लिखा है कि - "सो सूरदासजी तो जब श्री आचार्य जी महाप्रभुन को प्राकट्य है तब इनको जन्म है ।" इनके माता पिता निर्धन सारस्वत

1- डॉ0 सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास भाग-4 - पृ0 353
2- डॉ0 सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास भाग-4 - पृ0 359

ब्राह्मण थे । सूर जन्म से अन्धे थे इसलिए माता पिता को इनकी ओर उदासीनता रहती थी । घर की उपेक्षा और निर्धनता के कारण इन्होंने घर छोड़ दिया । इनके विवाह का उल्लेख नहीं मिलता । सूरदास को साधु संगति से ज्ञान प्राप्त हुआ । ये गान-विधा में निपुण थे, और पद रचना करते थे । इनको वाक्‌सिद्धि थी. इसलिए इनके बहुत से शिष्य हो गये थे । उस समय वे दास्य भाव से भगवान की उपासना करते थे ।

18 वर्ष की वय तक ये अपने गाँव से चार कोस दूर एक तालाब के किनारे रहेहे । बाद में मथुरा और वहाँ से आगरा और मथुरा के बीच गऊघाट पर इनके शिष्यों ने कुटी नहीं बनाई तब तक सूरदासजी रूनकता गाँव में रहते थे । वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षा लेने के बाद ये श्री नाथ जी की कीर्तन सेवा में पहुँचे । वहाँ ये गोवर्धन के पास चंद्रसरोवर परासोली में रहे थे । 84 वार्ता तथा वल्लभ-दिग्विजय के आधार पर सं0 1560 में गऊघाट पर श्री वल्लभाचार्य की शरण में आए ।

84 वैष्णवों की वार्ता के भावप्रकाश में सूरदास के अन्तिम समय के वर्णन से ज्ञात होता है कि वल्लभाचार्य के सुपुत्र गुसाँई जी के लीला-प्रवेश सं0 1642 के कुछ साल पहले (अनुमानत: दो साल) सूरदास जी का निधन हुआ था । अत: सूरदास जी का निधन परासौली ग्राम में सं0 1640 में हुआ ।[1]

इनकी रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं - सूरसागर, सूरसारावली तथा साहित्य लहरी । इनमें सूरसागर इनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना है । "जिस प्रेम भाव का वर्णन इन्होंने सूरसागर में किया है, वह पूर्णतया "भक्ति रसामृत सिन्धु" और "उज्जवल नीलमणि" के मेल का है । ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी भक्ति की पृष्ठभूमि तो चैतन्य महाप्रभु की है और साँचा वल्लभ सम्प्रदाय का ।[2]

1- सम्पादक - प्रो0 कण्ठमणि शास्त्री - ऐतिहासिक दृष्टि में अष्टछाप, विधाविभाग, कांकरोली - पृ0 4

2- डॉ0 हरवंशलाल शर्मा - सूर और उनका साहित्य - पृ0 250

कृष्ण चरित, उनकी विविध लीलाओं का गान सूरसागर के गेय पद परम्परा में वर्णित हैं जिसके सन्दर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मानना है कि - सूरसागर किसी चली आती हुई गीति काव्य परम्परा का चाहे वह मौखिक ही रही हो, पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है । अर्थात् सूरसागर के बहुत पहले ही (और इसलिए वल्लभाचार्य के भी बहुत पहले) वैष्णव प्रेमधारा ने इस प्रदेश में अपनी जड़ जमा ली थी ।[1] कृष्ण चरित के गान में गीति काव्य की जो धारा पूरब में जयदेव और विद्यापति ने बहाई उसी का अवलम्बन ब्रज के भक्त कवियों ने भी किया ।[2] पुष्टि सम्प्रदाय के अन्तर्गत ये कृष्ण के "कृष्णसखा" और सखी रूप में "चंपकलता" के रूप में जाने गये ।

<u>परमानन्ददास</u> : इनके जन्म व परिचय के विषय में स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होते । चौरासी वैष्णवन की वार्ता के अनुसार परमानन्द का जन्म कन्नौज जिला फर्रुखाबाद में एक निर्धन कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था । जन्म सं0 1550 (अनुमान) माना गया है । वल्लभ सम्प्रदाय में प्रचलित है कि - परमानन्ददास जी वय में आचार्य जी से 15 वर्ष छोटे थे । सम्प्रदाय में आने से पूर्व ही गायन और कीर्तन में इनकी बहुत ख्याति थी । गायन शिक्षा तथा हरि कीर्तन में भाग लेने के लिए इनके पास बहुत से लोग आते थे । ये "स्वामी" कहलाते थे । सं0 1577 ज्येष्ठ शुक्ल 12 को इन्होंने पुष्टि सम्प्रदाय में प्रवेश किया । इनका अन्तिम समय सं0 1640 - 1641 के बीच का माना जाता है । वार्ता के अनुसार परमानन्ददास जी ने भादों वदी नौमी को मध्यान्ह के समय देह छोड़ी थी ।

सम्प्रदाय के अन्तर्गत ये तोक सखा तथा निकुंज सखी रूप में "चन्द्रभागा" सखी के नाम से जाने जाते हैं । "परमानन्द सागर" इनकी प्रमुख रचना है । इसमें लगभग 2000 पद हैं जो कांकरोली विद्याविभाग से प्रकाशित हो चुके हैं ।

1- दे0 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - सूर साहित्य - पृ0 95

2- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ0 151

इनके पिता ने इनसे विवाह करने का आग्रह किया, परन्तु इन्होंने निषेध कर दिया । इनकी रूचि त्याग व वैराग्य की ओर हो गयी । माना जाता है कि इन्होंने कन्नौज में शिक्षा पाई पर इनके शिक्षा गुरू का कोई उल्लेख नहीं मिलता ।

"परमानन्द-सागर" का वर्ण्य विषय श्री कृष्ण की रस क्रीडाएँ ही हैं । दान, मान, आसक्ति, स्वरूप सौन्दर्य, सुरतान्त, युगल-विलास, खण्डिता, ऋतु-विहार आदि रस प्रसंगों के प्रस्तार तथा श्रृंगार-रस, नायिका निरूपण आदि रस साहित्य के तत्वों का सम्पुट देकर नन्दनन्दन की ब्रज लीलाओं का और भी विशद-गम्भीर निर्वचन किया गया है ।[1]

परमानन्द की प्रेम-भक्ति के साथ यह मान्यता भी प्रकट है कि वे ब्रम्ह के आनन्द अथवा रस-रूप के उपासक थे -

रसिक सिरोमनि नंदनदन ।

x x x x x x x

जिंहि रस मत्त फिरत मुनि मधुकर सो रस संचित ब्रज वृन्दावन ।
स्याम धाम रस रसिक उपासत प्रेम प्रवाह सु परमानन्द गन ।।

परमानन्द ने संसार के लोक व्यवहार से विरक्त होकर अपनी समस्त लौकिक भावनाओं को कृष्णार्पण कर दिया था और वे जीवन-मुक्त भजनानन्दी भक्त रूप में गोवर्धननाथजी के चरणों में रहते थे । प्रेम और सौन्दर्य के स्वरूप आनन्दकंद कृष्ण की भक्ति के आनन्द के सामने वे मुक्ति की भी अवहेलना करते हैं । भजनानंद ही उनके लिए मुक्ति की अवस्था है ।[2]

1- परमानन्द सागर, विद्या विभाग कांकरोली प्रकाशन - पृ0 4 भूमिका
2- परमानन्द सागर, विद्या-विभाग कांकरोली प्रकाशन - पृ0 3 भूमिका

नन्ददास : सं0 1590 (अनुमानत:) इनका जन्म माना जाता है । इनके माता पिता का उल्लेख नहीं है । सं0 1667 की वार्ता में इन्हें तुलसीदासजी का भाई कहा गया है । इस सम्प्रदाय में आने से पहले ये रामानन्दी-सम्प्रदाय के शिष्य थे । सं0 1606 के लगभग गोस्वामीजी की शरण में आये और सूरदासजी के कथन से गृहस्थ हुए । उनके एक सन्तान हुई और फिर सं0 1624 के आस-पास पुन: श्रीनाथजी की कीर्तन सेवा में आ गए ।[1] गोसाँईजी के गोलोकवास के समय सं0 1642 के लगभग इनका अन्तिम समय माना गया है । ये मानसी गंगा के किनारे गोवर्धन में रहते थे ।

नन्ददास ने छन्द और पद दोनों ही शैलियों में रचनाएं की हैं । इनकी छन्द रचनाएँ प्राय: बहुत छोटे ग्रन्थ के आकार की है । इनके निम्नलिखित ग्रंथ हैं - रासपंचाध्यायी, सिद्धान्त पंचाध्यायी, भ्रमर गीत, पंचमंजरी (विरह मंजरी, रस मंजरी, रूपमंजरी, अनेकार्थमंजरी और मानमंजरी), दशम स्कन्ध-भाषा, अध्याय, रुक्मिणी मंगल, श्यामसगाई, सुदामा चरित, और गोवर्धन लीला ।[2]

पुष्टि - सम्प्रदाय के अन्तर्गत ये ठाकुरजी (श्रीकृष्ण) की दिवस लीला में "भोज" सखा व रात्रि की लीला में श्रीचन्द्रावलीजी की सखी "चन्द्रेखा" के नाम से जाने जाते हैं । इन्होंने भी मुख्य रूप से श्रृंगार लीला का ही गान अपने भक्तिपरक काव्य में किया है ।

कुम्भनदास : गोवर्धन से कुछ दूर जमनावतौ ग्राम में सं0 1525 में इनका जन्म हुआ । गोवर्धननाथ की प्राकट्य वार्ता में लिखा है कि जब श्रीनाथजी प्रकट हुए (सं0 1535) तब कुम्भनदासजी की आयु 10 वर्ष थी । पुष्टि सम्प्रदाय में

1- ऐतिहासिक दृष्टि में अष्टछाप - विद्याविभाग कांकरोली प्रकाशन - पृ0 12

2- ऐतिहासिक दृष्टि में अष्टछाप - विद्या-विभाग कांकरोली प्रकाशन - पृ0 13

किंवदन्ती है कि कुम्भनदास के पिता कुम्भ मेले में गए वहाँ उन्होंने उन्हें एक महात्मा की सेवा से पुत्र-प्राप्ति का आशीर्वाद मिला । उसी की स्मृति में कुम्भनदास नाम रखा गया ।

इनके पिता का नाम अज्ञात है । यह गोरखाक्षत्रिय थे । इनका व्यवसाय केवल खेती करना था । निर्धन होने पर भी ये त्यागी थे । एक बार राजा मानसिंह ने इन्हें द्रव्य दिया पर इन्होंने नहीं लिया । भरे दरबार में बादशाह अकबर की भी इन्होंने उपेक्षा कर दी थी । गान विद्या में ये निपुण थे । श्री वल्लभाचार्य के संसर्ग से इन्होंने भक्ति का महत्व समझा और पुष्टिमार्ग के अनुगामी बने ।

लगभग सं0 1640 के आसपास आन्योर के पास संकर्षण कुण्ड पर इन्होंने शरीर त्याग दिया । ये ब्रज में जमुनावती में रहते थे ।

कुम्भनदासजी द्वारा रचित 400 पद प्राप्त होते हैं । कुछ प्रकीर्ण पद भी प्रकाशित हैं । जो कांकरोली विद्याविभाग द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं ।

कृष्णदास : इनका जन्म संवत् भी 1554 के आस-पास अनुमानित है । ये सं0 1567 में आचार्य वल्लभ की शरण में आये । इनको प्रारम्भिक शिक्षा गुजराती भाषा में हुई । वल्लभ सम्प्रदाय में आने के उपरान्त इन्होंने ब्रज-भाषा सीखी और काव्य में प्रवीणता प्राप्त की ।

सं0 1590 के लगभग गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने इनको मंदिर का अधिकार सौंपा । नाथद्वार में मंदिर के कृष्ण भण्डार का नाम इन्हीं के नाम पर अब तक चला आता है, और वहाँ का पत्र-व्यवहार आदि अधिकारी कृष्णदासजी के ही नाम से होता है । ये बिलछूकुंड के पास रहते थे ।

सं0 1638 के लगभग पूँछरी के पास कुएँ में गिर कर इनकी मृत्यु हुई । यह कुआँ "कृष्णदास का कुआ" नाम से आज भी प्रसिद्ध है ।

इनका 700 पदों का संग्रह "कृष्ण-सागर" नाम से कांकरोली विद्याविभाग द्वारा प्रकाशित हुआ है ।

<u>चतुर्भुजदास</u> : सम्प्रदाय कल्पद्रुम के आधार पर इनका जन्म संवत् 1597 जमुनावता गाँव गोवर्धन के समीप हुआ था । अष्टछाप के प्रसिद्ध संत कुम्भनदासजी के ये पुत्र थे । वार्ता से ज्ञात होता है कि - चतुर्भुजदास को इकतालीसवें दिन इनके पिता ने गोसांईं विट्ठलनाथजी के द्वारा समर्पण कराया था । इनकी शिक्षा-दीक्षा वल्लभ सम्प्रदाय में ही हुई । पदों से ज्ञात होता है कि वह संस्कृत के अच्छे जानकार थे । गान-विधा - कविता शक्ति इन्होंने अपने पिता से प्राप्त की थी ।

गोस्वामी विट्ठलनाथजी के गोलोकवास के बाद ही सं0 1642 में इन्होंने भी शरीर त्याग दिया । ये जमुनावती में रहते थे ।

इनके द्वारा रचित पद कीर्तन लगभग 200 पदों का संग्रह विधाविभाग कांकरोली द्वारा प्रकाशित हो चुका हैं ।

वल्लभ सम्प्रदाय के अन्तर्गत मान्यता है कि वे श्रीकृष्ण की दिन की लीलाओं में "विशाल" सखा व रात्रि की लीलाओं में "विमला सखी" के रूप में लीलाओं में प्रवेश पाते थे ।

<u>गोविन्द स्वामी</u> : संवत् 1562 (अनुमान से) इनका जन्म आँतरी ग्राम (भरतपुर राज्य) में हुआ था । इनके माता-पिता के विषय में भी कोई वृतान्त नहीं मिलता । ये सनाढ्य ब्राम्हण थे । वार्ता के अनुसार वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पूर्व ये गृहस्थ थे, बाद में घर छोड़ दिया । सं0 1642 में गोस्वामी विट्ठलनाथजी की मृत्यु के बाद ही एक कंदरा (गोवर्धन की) में इन्होंने प्रवेश किया व अन्तर्हित हो गए ।

इनके पदों का संग्रह भी कांकरोली विधाविभाग द्वारा प्रकाशित हो चुका है । सम्प्रदाय में ये श्रीकृष्ण के "श्रीदामा" सखा व "भामा" सखी के रूप में जाने जाते हैं ।

<u>छीत स्वामी</u> : संवत् 1572 (अनुमानतः) में मथुरा में इनका जन्म हुआ। माता-पिता के विषय में वृत्तान्त ज्ञात नहीं है। ये चतुर्वेदी ब्राम्हण और बीरबल के पुरोहित थे। सम्प्रदाय में आने से पूर्व ये लम्पट स्वभाव के थे। संवत् 1592 में गुसांईजी की शरण में आये। ये गिरिराज पूँछरी स्थान में निवास करते थे। इनका अन्तिम समय 1642 माना जाता है।

इनके लगभग 200 पद मिलते हैं। जो कांकरोली विद्याविभाग द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं।

श्रीकृष्ण की दिन की लीलाओं में ये "सुबल" सखा व रात्रि की लीलाओं में "पद्मा" सखी के रूप में पुष्टि सम्प्रदाय में जाने जाते हैं।

उपर्युक्त आठों अष्टछापी कृष्ण भक्तों के जन्म मृत्यु के विषय में अनुमान ही अधिक हैं। निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। उपर्युक्त आठों में से क्रमशः पहले चार श्री वल्लभाचार्य (संवत् 1535 वि0 से संवत् 1587 वि0) के शिष्य थे, और अन्तिम चार वल्लभाचार्यजी के सुपुत्र विट्ठलनाथ (संवत् 1572 से संवत् 1642 वि0) के।

2) <u>स्पष्टीकरण</u> :

प्राचीन भारत में मुख्य रूप से दो प्रकार की धार्मिक परम्पराएं थीं - (1) ब्राम्हण परम्परा और (2) श्रमण परम्परा। ब्राम्हण परम्परा कर्मकाण्ड (कर्ममार्ग, कर्मनिष्ठा) की समर्थक रही, और श्रमण परम्परा ज्ञानकाण्ड (ज्ञानमार्ग, संन्यासमार्ग) की। प्राचीन वाङ्मय में इन्हें ही क्रमशः भोगवादी और त्यागवादी परम्परा नाम भी दिये गये हैं। भोगवादी परम्परा के अनुसार व्यक्ति के जीवन का ल य है, अपने शुभकर्मों के फलस्वरूप इहलोक व परलोक (स्वर्ग) में सुख की प्राप्ति। किन्तु श्रमण परम्परा के साधकके जीवन का लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति होता है। ये दो परस्पर विपरीत जीवन पद्धतियाँ हैं; कोई भी व्यक्ति एक को त्याग कर ही दूसरी को अपना सकता है। इन्हें ही क्रमशः प्रवृत्ति मूलक धर्म व निवृत्ति मूलक धर्म भी कहा गया है। प्रवृत्ति मूलक धर्म में जो मुख्य बात आती है, वह है -

12

सामाजिकता । अर्थात् सामाजिक आचार-विचार का निर्वाह । यहाँ व्यक्ति सामाजिक सम्बन्धों में बँधा हुआ एक सामाजिक प्राणी होता है । उसका प्रत्येक कार्य सामाजिक सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में होता है । वह मात्र स्वयं के हित की बात नहीं सोच सकता । इन सम्बन्धों का निर्वाह एवं उनके प्रति उसका उत्तर-दायित्व उसके लिए मुख्य बात है । वह सामूहिक हित की बात सोचता है, मात्र स्वयं के हित की नहीं ।

इसके विपरीत दूसरा चिन्तन निवृत्तिमूलक धर्म का है । इसमें व्यक्ति स्वयं को पूर्ण इकाई मानकर चलता है । इस विचारधारा के अनुसार वह अकेला आया है, और अकेला ही जायेगा । अत: सारे सामाजिक अथवा सांसारिक सम्बन्ध उसके लिए त्याज्य होते हैं, क्योंकि समस्त सामाजिक सम्बन्ध एवं दायित्व उसके लिए त्याज्य होते है, इसलिए वह इन सब में मात्र दोष देखता है । अत: उसकी दृष्टि से सामाजिक सम्बन्ध एवं दायित्व क्षणिक एवं दु:खपूर्ण होने से त्याज्य होते हैं । उसका यह दृष्टिकोण "दोषदर्शन" कहा जा सकता है । इन आत्म साधकों के चिन्तन में उक्त विचार माया के अन्तर्गत आते हैं ।

जितने भी साधना-मूलक धर्म हैं, वे सब इसलिए निवृत्ति मूलक ही होते हैं क्योंकि वे व्यक्ति के अकेले के उद्धार की बात करते हैं, जो मूलत: व्यक्तिवादी चिन्तन है । जैसा हम देख चुके हैं बौद्ध धर्म में इसी विचार धारा का प्रतिपादन हुआ है ।

मध्यकालीन भक्ति-साधना भी वैयक्तिक साधना है । अर्थात् भक्त अपनी भक्ति द्वारा आत्मोद्धार (अपने उद्धार) का लक्ष्य सिद्ध करना चाहता है । सामूहिक जीवन सामाजिक सम्बन्ध एवं सामाजिक दायित्वों को त्याग कर वह गुरू की शरण में जाता है । गुरू द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से अपने आराध्य की साधना में तल्लीन होकर उसका सान्निध्य, सामीप्य सालोक्य एवं सारूप्य प्राप्त करने की चेष्ठा करता है । अत: भक्तिमार्ग भी कर्ममार्ग न होकर बौद्ध-धर्म की तरह ही संन्यास मार्ग है ।

3

अर्थात् दोनों की धार्मिक चेतना में संन्यास मार्ग निहित है । इस सामान्य भूमिका के कारण दोनों में त्याग भावना और संन्यास तो होगा ही, ध्यातव्य यह भी होगा कि मध्यकालीन कृष्ण भक्ति में यह संन्यास का त्याग बौद्ध-परम्परा के तांत्रिक मतों के अवशेषों के माध्यम से ही आया होना चाहिए । इसलिए आगे बौद्ध तांत्रिक परम्परा से पुष्टिमार्ग के ऐतिहासिक सम्बन्ध की संभावना पर संक्षिप्त रूप से विचार करना प्रासंगिक होगा ।

3: बौद्ध परम्परा से पुष्टिमार्ग का सम्बन्ध :

जैसा हम पहले भी कह चुके हैं कि चैतन्य व वल्लभ यद्यपि समकालीन थे किन्तु चैतन्य अवस्था में वल्लभाचार्य से बड़े थे । अत: ऐतिहासिक क्रम से चैतन्य का स्थान पहले आता है । चैतन्य के शिष्य जब वृन्दावन आये और यहाँ उन्होंने राधा-माधव की युगल उपासना का प्रचार प्रसार किया, तब पुष्टिमार्गी कृष्ण भक्ति भी इससे प्रभावित हुई । बंगाली वैष्णवों का वल्लभ सम्प्रदाय में इस सीमा तक प्रवेश था कि प्रारम्भ में श्रीनाथजी (पुष्टिमार्गी मन्दिर) के पुजारी बंगाली थे ।[1]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रभृति अनेक विद्वानों के अनुसार राधा और माधव के माध्यम से प्रेम लक्षणा साहित्य की सर्जना का उद्गम बंगाल है । डॉ0 हरवंशलाल शर्मा के अनुसार बौद्धों की सहजयानी शाखा तथा वैष्णवों के सहजिया सम्प्रदायों के गीतों में हमें भक्ति का सही सहज स्वरूप देखने को मिलता है जो परवर्ती ~~z~~ उत्तर भारतीय कृष्ण भक्ति साहित्य में अपना लिया गया ।[2]

बंगाल और उड़ीसा बौद्ध तांत्रिकों के सहजिया मत के प्रभाव क्षेत्र रहे हैं । इन्हीं क्षेत्रों में वस्तुत: बौद्ध सहजियाओं का एक रूप वैष्णव सहजिया के रूप में

1- दे0 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास - पृ0 186
2- दे0 "भागवत्-दर्शन" - पृ0 - भूमिका से साभार ।

जाना गया । इन वैष्णव सहजियाओं में चण्डीदास, जयदेव, चैतन्य आदि की गणना भी होती है । चैतन्य और उनके अनुयायी बौद्ध तांत्रिकों की रागसाधना को लेकर वृन्दावन आदि क्षेत्रों और उसके निकटवर्ती क्षेत्रों में आये । ये लोग जिस बौद्ध तांत्रिक राग साधना को अपनाकर चले थे वही आगे चलकर प्रेमलक्षणा भक्ति के नाम से अभिहित हुई । इसी पार्श्व भूमिका पर वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग की स्थापना की । सम्भवतः यही मूलभूत कारण है कि प्रारंभ में वल्लभ सम्प्रदाय और उनके पुष्टिमार्ग में बंगालियों का स्थान और प्रभाव महत्वपूर्ण था । डॉ० हरवंश-लाल के अनुसार "वल्लभ सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट झलक जाती है कि सिद्धान्त रूप से वल्लभ सम्प्रदाय, चैतन्य सम्प्रदाय से बहुत अधिक प्रभावित था" ।[1] इसी प्रकार डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय का मानना है कि - "वल्लभाचार्य की पुष्टिसाधना तथा चैतन्य मत का मधुर भाव प्रायः मिलता जुलता है"।[2] इस प्रकार अन्तर्बाह्य प्रमाणों से फलित होता है कि वल्लभाचार्य की पुष्टिमार्गीय भक्ति के मूल में चैतन्य मतानुयायी भक्तों के माध्यम से बौद्ध सहजियों की भूमिका अवश्य रही होगी । दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि चैतन्य मतानुयायी बंगाली भक्तों द्वारा लगाई गयी नींव पर आगे चलकर वल्लभाचार्य की पुष्टिमार्गी भक्ति साधना का भव्य भवन तैयार किया गया ।

जैसा हम पहले देख चुके हैं बौद्ध तांत्रिक साधना और पुष्टिमार्गी भक्ति दोनों में संन्यास या निवृत्ति लक्षण धर्म की सामान्य भूमिका स्वीकृत है । अतः आगे निवृत्ति लक्षण धर्म के सामान्य लक्षणों के अन्तर्गत प्रथम का प्रभाव द्वितीय पर देखने का प्रयास करते हैं ।

1- सूर और उनका साहित्य - पृ० 204

2- हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि - पृ० 194

15

4) पुष्टिमार्ग पर बौद्ध - धर्म - परम्परा का प्रभाव :

1) व्यक्तिवाद : जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, निवृत्तिमार्गी परम्परा व्यक्ति को स्वयं में पूर्ण इकाई मानकर चलती है। प्रवृत्ति मार्गी सामाजिक तथा सामूहिक हित को सोचकर कोई कार्य करता है, किन्तु संन्यासियों की परम्परा स्वयं के उद्धार की बात मुख्य रूप से सोचती है। वहाँ व्यक्ति "स्व" तक परिसीमित रहता है - "उसकी शब्दावली में प्रयुक्त - आत्मचिन्तन, आत्मविचार, आत्मदृष्टि, आत्मज्ञान, आत्मबोध, आत्मसाधना, आत्मोपासना, आत्मकल्याण, आत्मोद्धार, आत्मस्थिति आदि शब्दों में "आत्म" शब्द का तात्त्विक या मूलभूत अर्थ है - "मेरा अपना"।[1] कृष्ण भक्ति काव्य में उपयुक्त परम्परा का निर्वाह इस रूप में हुआ है -

कुल की कानि कहाँ लगि करिहौं।
तुम आगैं मैं कहौं जु साँची, अब काहू नहिं डरिहौं।
लोग कुटुम्ब जग के जे कहियत, पेला सबहि निटरिहौं।
आपु सुखी तौ सब नीके हैं, उनके सुख कह सरिहौं।
सूरदास प्रभु चतुर सिरोमनि अबकैं हौं कछु लरिहौं।[2]

इस प्रकार यह व्यक्तिवादी चिन्तन संन्यास धर्म (बौद्ध धर्म) की तरह कृष्ण भक्तों में भी पाया जाता है।

2) संन्यास का समर्थन : बौद्ध-धर्म संन्यास प्रधान धर्म है। कृष्ण भक्ति के अन्तर्गत वल्लभाचार्य का स्पष्ट संकेत (कथन) है कि विरह के अनुभव के लिए "गृह त्याग" उत्तम होता है।[3] इस दशा में ऐसा वेश धारण करना उचित है जो अपने बन्धन रूपी स्त्री-पुत्रादिकों से निवृत्ति का सूचक हो।[4] आचार्यजी ने प्रेम की तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है -

1- डॉ0 रामनाथ शर्मा - भक्ति काव्य के पुनर्मूल्यांकन में उपयोगी सन्दर्भ - पृ0 13
2- सूरसागर (ना0 प्र0 स0) पद 1943, पृ0 41
3- आचार्य बलदेव उपाध्याय - भागवत् सम्प्रदाय - पृ0 390
4- आचार्य बलदेव उपाध्याय - भागवत् सम्प्रदाय - पृ0 390

स्नेह, आसक्ति और व्यसन । ये तीनों ही भावनाएं भगवान के प्रति भक्त के दृढ़ीकरण तथा निरन्तर पुष्टि-प्राप्ति के निमित्त आवश्यक हैं । जैसा हमने पहले देखा कि बौद्ध-धर्म का मूल स्वरूप वैयक्तिक अन्तर्मुखी यौगिक साधना का है । वल्लभ-मत के अनुसार भी उच्चतम भक्त सब कुछ त्याग देता है । उसका मन केवल कृष्ण के प्रेम से ओत-प्रोत रहता है । उसके लिए पुत्र, कुल धर्म आदि का कोई महत्व नहीं होता ।[1] उपर्युक्त विचार धारा बौद्धों की संन्यास प्रधान प्रवृत्ति का समर्थन करती है । अष्टछाप के कृष्ण भक्त कवियों ने अपने काव्य में इस निवृत्ति धर्म का समर्थन किया है जिसे हम अलग अलग रूपों में इस प्रकार देख सकते हैं -

(क) <u>अर्थ-निन्दा</u> : धन के उपार्जन, रक्षण, संग्रह आदि को संन्यास-प्रधान धर्मों में दुस्साहस एवं दुःखपूर्ण बतलाकर उसकी निन्दा की गई है । उनके अनुसार धन कमाने में दुःख, रखने में दुःख व चले (चोरी) जाने में दुःख ही दुःख है । धन होने से वैर-भाव बढ़ते हैं । इसे कमाने के लिए मनुष्य छल-कपट व अत्याचार का सहारा तक लेता है । अतः ऐसा धन त्याज्य है । किन्तु सच्चाई यह है कि इस प्रवृत्ति को एक गृहस्थ नहीं अपना सकता, क्योंकि उसके लिए धन की अनिवार्यता है । उसका अपना परिवार है, जिसके लिए उसे धन चाहिए । पारिवारिक दायित्वों के लिए धन उसकी मुख्य आवश्यकता है । उसके लिए - "कर तल भिक्षा तरू तल वास" जीवन का आदर्श नहीं बन सकता । संन्यासियों के लिए कदाचित् यह सम्भव भी हो कि वह धन का लोभ अथवा संग्रह न करे किन्तु गृहस्थ का धन के बिना निर्वाह असम्भव ही है । कृष्ण भक्तों में हमें संन्यासियों की परम्परा की तरह अर्थ-निन्दा का समर्थन मिलता है ।

1- डॉ० सुरेन्द्रनाथ गुप्ता, भारतीय दर्शन का इतिहास - पृ० 22

ज्यौं जन संगति होति नाव मैं, रहति न परसैं पार ।
तैसें धन-दारा-सुख सम्पत्ति, बिछुरत लगे न बार ।[1]

अथवा

धन-सुत-दारा काम न आवैं, जिनहिं लागि आपुनपौं हारौ ।[2]

ख) **कामनिन्दा** : व्यापक अर्थ में "कामना" मात्र का नाम ही काम है । जहाँ प्रवृत्तिमार्ग में "काम" को सृष्टि का बीज माना गया है, वहीं श्रमण-परम्परा में इसका प्रबल विरोध हुआ है । कामना वहाँ तृष्णाएँ हैं जिनका कहीं अन्त नहीं है । अतः उनसे दूर रहने की बात कही जाती है । सामान्य रूप से "काम" का प्रेरक एवं उद्दीपक नर-नारी का शारीरिक स्वास्थ्य, रंग-रूप सौन्दर्य होता है । अतः भोगी के लिए नारी सौन्दर्य, रूप लावण्य अपनी महत्ता रखता है । दूसरी ओर संन्यासी के लिए वही शरीर रूप आदि चमड़े से मढ़ा हुआ, मांस-स्नायु, अस्थि-मज्जा, मलमूत्र से भरा पात्र है । उनके अनुसार तो - "आमिष - रुधिर -
"आमिष - रुधिर - अस्थि संग जौलौं तौलौं कोमल चाम"।
तौ लगि यह संसार सगौ है जौ लगि लेहि न नाम ।।[3]

पत्नी-पुत्रादि तो उनकी दृष्टि में इतने स्वार्थी हैं कि जिनके पीछे व्यक्ति अपना सब कुछ अर्पण कर देता है किन्तु वे उसका साथ न देकर, एक समय ऐसा आता है कि उससे वे नाता तोड़ लेते हैं । इसलिए वे कहते हैं -

---

1- सूर सागर - (ना० प्र० ग्र० - पद 84 - पृ० 23
2- सूर सागर - (ना० प्र० ग्र० - पद 80 - पृ० 22
3- सूर सागर - (ना० प्र० ग्र० - पद 76 - पृ० 21

धन - सुत - दारा काम न आवैं, जिनहिं लागि आपुनपौ हारौ ।[1]

और भी -

घर की नारि बहुत हित जातौं, रहति सदा सँग लागी ।
जा छन हँस तजी यह काया, प्रेत-प्रेत कहि भागी ।[2]

उपर्युक्त सारी बातें कृष्ण भक्तों के काम निन्दा परक विचारों की ही सूचक है, जो बौद्धों के "काम तण्हा" से साम्य रखता है ।

गऋ **<u>धर्म-निन्दा</u>** : प्रस्तुत सन्दर्भ में "धर्म" शब्द का अर्थ है - कर्म । अतः कर्म निन्दा ही धर्म निन्दा है । व्यापक अर्थ में क्रिया मात्र को कर्म कहा जाता है । संन्यास प्रधान विचार होने से "कर्म निन्दा" "बौद्ध धर्म" में स्वभावतः थी, क्योंकि कर्म वहाँ बन्धनकारक माने गए हैं -

"कम्मना वत्तत्ती लोको कम्मना वत्तत्ती पजा ऋप्रजाऋ ।
कम्मनिबन्धना सत्ता ऋसत्वानिऋ रथस्साडणींव यायते ।।[3]

अर्थात् कर्म से ही लोक और प्रजा की व्यवस्था है, कर्म बन्धन में ही प्राणीमात्र बंधा हुआ है, यह कर्मबन्धन तृष्णाजन्य हैं । सिद्ध सरहपा के अनुसार -

---

1- सूरसागर - ऋना० प्र० ग्र०ऋ - पद 80 - पृ० 22
2- सूरसागर - ऋना० प्र० ग्र०ऋ - पद 79 - पृ० 22
3- सुत्त निपात वासेटसुत्त - 61 ऋश्रेयसाधक कबीर से साभारऋ

"वज्झइ कम्मेण जणों कम्म विमुक्केण होइ मण मुक्को ।
मण मोक्खेण अणुअरं पाविज्जइ परमणिब्बाणं ।।[1]

क्योंकि कर्म उनके अनुसार बन्धन के कारण हैं चाहे वह शुभ हो या अशुभ, कर्मफल दोनों स्थिति में मनुष्य को प्राप्त होते हैं । इसलिए मनुष्य कर्म बन्धन से मुक्त नहीं हो पाता । मोक्ष ॥निर्वाण॥ के हेतु इन्हीं कर्मों से मुक्ति अनिवार्य कही गई है । मध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियों ने भी कर्म-निन्दा का अपने काव्य में समर्थन किया - उनके अनुसार तो -

माया मोह लोभ अरूमान ये सब नर को फाँस समान ।[2]

अथवा

अनायास बिनु उद्यम कीन्हे, अजगर उदर भरे ।[3]

यहाँ तो मुख्य कर्म भगवत्सेवा है -

कर्माण्येकं तस्य देवस्य सेवा ।[4]

और इस भगवत्सेवा के अन्तर्गत भक्तगण जो कर्म करते हैं वे इस प्रकार के हैं - यथा -

----

1- दोहाकोष ॥राहुल सांकृत्यायन॥ दोहा-24
2- सूरसागर ॥ना0 प्र0 ग्र0॥ - पद संख्या 4301 - पृ0 574
3- सूरसागर ॥ना0 प्र0 ग्र0॥ - पद संख्या 105 - पृ0 28
4- व्याख्याता - गोस्वामी श्री बृजभूषण शर्मा, श्री सर्वोत्तम नाम चरित्र संगति - पृ0 109

गाऊँ श्रीवल्लभ-नंदन के गुन, लाऊं सदा मन अंग सरोजनि ।
पाऊं प्रेम-प्रसाद ततच्छिनु, ध्याऊँ गोपाल गहे चित चोजनि ।।
नाऊँ सीस, लइयाऊं लालैं, आयो सरन यहै जु परोजनि ।
"छीत स्वामी" गिरिधरन, श्री विट्ठल ऊपर बारौं कोटि मनोजनि ।

अर्थात् गुरू की ईश्वर रूप में वन्दना तथा श्रीकृष्ण की पूजा अर्चना, सेवा, भजन कीर्तन नाम स्मरण आदि ही इनके कर्म हैं, जिन्हें ये अपना धर्म समझते हैं । सामाजिक पारिवारिक कर्तव्य तो इनके लिए बन्धनकारक है, अत: इनकी ये निन्दा करते हैं । बिना उद्यम किए ही प्रभु कृपा से ही सब कुछ प्राप्त हो जाता है । अत: उद्यम (कर्म) की आवश्यकता ही नहीं है । तभी तो परमानन्ददास कहते हैं -

जब गोविन्द कृपा करै तब सब बनि आवै ।
सुख - सम्पति - आनन्द घनौ घर बैठे पावै ।।
कुबिजा कहा उद्यम कियो मथुरा के माली ।
इहि चंदन उहि फूल दै अरचे बनमाली ।।[1]

इनका मानना है कि व्यक्ति के द्वारा पुरूषार्थ करना व्यर्थ है, क्योंकि जो कुछ भी होता है वह प्रभु कृपा से होता है । ईश्वर ही कर्ता है अत: उसी के ऊपर निर्भर रहना चाहिए । सब कुछ छोड़ कर मात्र ईश्वर के चरण-कमलों में ही चित्त को लगा कर उसके भरोसे जीवन को छोड़ देना चाहिए । क्योंकि होता वही है, जो गोपाल (श्रीकृष्ण) चाहते हैं -

किये गोपाल को सब होई ।
जो माने पुरूषारथ अपनौ अति सै झूँठो सोई ।।
सुख-दु:ख लाभ अलाभ सहज गति ताहि न मरिये रोइ ।
जो कुछ लेख लिख्यो नंदनंदन मेटि सकै नहिं कोई ।।
साधन मंत्र जंत्र उद्यम बल यह सब डारौं धोई ।
परमानंददास को ठाकुर "चरन कमल" चित पोइ ।।[2]

1- परमानन्दसागर - प्रकाशक - विद्याविभाग कांकरोली - पृ0 584

2- परमानन्दसागर - प्रकाशक - विद्याविभाग कांकरोली - पृ0 602

इस प्रकार पुष्टिमार्ग में भाग्य भरोसे बैठे रह कर कर्तव्यों से विमुख होने की प्रवृत्ति बौद्धों की धर्मनिन्दा (कर्मनिन्दा) की भावना से साम्य रखती है ।

सामान्य रूप से लोगों की यह अवधारणा है कि भक्ति रागमार्गी साधना होने से गृहस्थों के उपयुक्त है और उसमें वैराग्य आवश्यक नहीं है, किन्तु ~~भ्रम/इस/प्र~~ इस प्रकार की अवधारणा भ्रम मूलक है । वस्तुतः भक्ति कोई सामूहिक धर्म या सामूहिक कर्म न होकर व्यक्ति या भक्त का उद्धार करने वाली वैयक्तिक साधना होने के कारण उसमें संन्यास का होना अपरिहार्य है ।

3) <u>दुःखवाद</u> : बौद्ध-धर्म की संन्यास प्रधान - प्रवृत्तियों में जो बात सर्व प्रथम आती है, वह है - उनका दुःखवाद । जैसा कि हम पहले देख चुके हैं - बुद्ध भगवान के चार आर्य सत्यों (दुःख, दुःखसमुदय, दुःख-निरोध तथा दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा) में दुःख को ही जीवन के मूल में माना गया है । उन्होंने जीवन को दुःखमय माना । बौद्धों का यही "सर्व दुखं-दुखं" का सिद्धान्त जब हम मध्यकालीन कृष्ण-भक्ति काव्य में खोजते हैं तो इसका यहाँ समर्थन मिल जाता है, क्योंकि कृष्ण भक्त कवियों ने भी जीवन को दुःख का सागर कहा । यही कारण है कि भाग्यवाद, निराशावाद, शरीर निन्दा क्षणभंगुरवाद आदि इनके काव्य में सर्वत्र मिल जाता है । उदाहरणार्थ -

"जग में जीवत ही कौ नातौ ।
मन बिछुरे तन छार होइगौ, कोउ न बात पुछातौ ।
मैं मेरी कबहूँ नहिं कीजै, कीजै पंच सुहातौ ।
विषयासक्त रहत निसि बासर, सुख सियरौ, दुख तातौ ।
साँच-झूठ करि माया जोरी, आपुन रूखौ खातौ ।
सूरदास कछु थिर न रहैगौ, जो आयौ सो जातौ"।[1]

1- सूरसौरभ (सूर स्मारक मण्डल आगरा) अनु0 अम्बाप्रसाद नर्मदा शंकर शुक्ल - पृ0 30

और भी -

किये करम अपने सब भुगते दु:ख कौ अंत न आयौ ।[1]

अर्थात् बौद्धों की तरह कृष्ण भक्त भी मानते हैं कि संसार में रहकर दु:खों का अन्त कहीं नहीं है । यही दु:खवाद व्यक्ति को निराशावादी बनाता है ।

4. निराशावाद : बौद्धों का निराशावाद कृष्ण-भक्ति काव्य में सरलता से खोजा जा सकता है । जीवन के प्रति निराशा का भाव मनुष्य को अकर्मण्यता की ओर ले जाता है । यह कर्तव्यों से पलायन की प्रवृत्ति है । जब मनुष्य सामाजिक सम्बन्धों, अथवा अपने कर्तव्यों के प्रति उदासीनता की प्रवृत्ति अपनाता है और उसके लिए सम्बन्ध बंधन (बोझ) बन जाते हैं - यही निराशावाद है । उदाहरण देखिए -

"ऐसैं करत अनेक जन्म गए, मन सन्तोष न पायौ ।
दिन दिन अधिक दुरासा लाग्यौं सकल लोक भ्रमि आयौ"।[2]

और इसी प्रकार -

जनम तौ बादिहिं गयौ सिराइ ।
हरि सुमिरन नहिं गुरू की सेवा, मधुबन बस्यौ न जाइ ।
अब की बार मनुष्य - देह धरि, कियौ न कछू उपाय ।
भटकत फिर्यौ स्वान की नाईं नैकुं जूठ के चाह ।[3]

1- परमानन्द सागर पद 1337 - पृ0 61
2- सूरसागर (ना0 प्र0 स0) पद 154 - पृ0 42
3- सूरसागर (ना0 प्र0 स0) पद 155 - पृ0 43

5§ **क्षणभंकुरवाद** : जैसा पहले कहा जा चुका है कि बौद्धों के क्षणभंकुर सिद्धांत के अनुसार सब कुछ क्षणिक है । संसार की प्रत्येक घटना प्रत्येक वस्तु क्षण-क्षण परिवर्तनशील है । अतः कुछ भी यहाँ स्थायी नहीं है, सब कुछ अस्थायी अथवा क्षणिक सत्ता लिए हुए है । इसलिए जो स्थायी नहीं है और जिसका अस्तित्व क्षण भर बाद समाप्त हो जाएगा या परिवर्तित हो जायेगा, उसके प्रति मोह कैसा ? यही विचारधारा हमें कृष्ण-भक्ति काव्य में भी मिल जाती है । उदाहरणार्थ -

"सुख संपति दारा सुत, हय, गय, छूट सबै जाई ।
छन भंगुर यह सबै स्याम बिनु अन्त नाहिं संग जाई"।[1]

जिस प्रकार बौद्धों ने संसार को स्वप्नवत कहा, उसी प्रकार इन कवियों ने भी - "जैसे सपने सोइ देखियत, तैसों यह संसार"[2] कहा । इस प्रकार बौद्धों की "सर्वं क्षणिकं-क्षणिकं" विचारधारा का साम्य कृष्णभक्तों के विचारों में खोजा जा सकता है । उनके अनुसार भी -

"इहिं तन छन - भंगुर के कारन, गरबत कहाँ गँवार"।

अर्थात् यह तन भी क्षण-भंकुर है । इनकी यह विचारधारा बौद्ध धर्म के प्रभाव को लक्षित करती है ।

6§ **शरीर-निन्दा** : बौद्धों में जो मनुष्य-देह की निन्दा की बात आती है - वह है उनकी शरीर निन्दा । जिसके अनुसार उन्होंने मनुष्य देह को त्यागने की बात की है । उसे दुःखों का आगर कहा है । शरीर निन्दा का जो स्वरूप बौद्धों में मिलता है, वही भाव कृष्ण-भक्ति काव्य में यत्र-तत्र मिल जाता है । देखिए -

---

1- सूरसागर §ना0 प्र0 ग्र0§ पद 317 - पृ0 83
2- सूरसागर §ना0 प्र0 ग्र0§ पद 31 - पृ0 103

जा दिन मन पँछी उडि जैहैं
ता दिन तेरे तन तरुवर के सबै पात झरि जैहैं ।
या देही कौ गरब न करियै, स्यार-काग-गिध खैहैं ।
तीननि मैं तन कृमि कैबिष्टा, कै ह्वै खाक उडैहैं ।[1]

और भी -

सूर स्याम यह कोउ न जानत, तन ह्वै हैं जरि खेह ।[2]

7। <u>सामाजिक सम्बन्धों की निन्दा</u> : बौद्धों ने सामाजिक सम्बन्धों को बन्धनकारक व साधना मार्ग में बाधक माना था, क्योंकि बौद्ध-धर्म प्रमुख रूप से संन्यासियों का धर्म था । अत: जितने भी सामाजिक सम्बन्ध है उन्हें वहाँ त्याज्य माना गया है । सूर आदि कृष्ण भक्त कवियों ने भी कृष्ण प्रेम को सर्वोपरी रखकर उसमें बाधक बनने वाले सम्बन्धों का निषेध किया - उदाहरणार्थ -

हरि अनुराग भरीं ब्रजनारी, लोक लाज कुल कानि बिसारी ।
सासु ननद हारीं दै गारी, सुनति नहीं कोउ कहति कहा री ।
सुत-पति नेह जगह यह जोर्यो, ब्रज तरुनिनि तिनुक सौं तोर्यो ।
ज्यौं जलधार फिरैं तृन नाहीं, जैसे नदी समुद्र समाही ।
ऐसें भजीं नंदनंदन कौं, सकुची नहिं त्यागत गृहजन कौं ।[3]

इसी प्रकार पुत्र आदि से भी मोह न रखने की बात कही गई है, क्योंकि उनके अनुसार एक दिन मृत्यु होने पर ये ही पुत्रादि जितने भी आत्मीय सम्बन्धी हैं वे सभी उससे घृणा करने लगते हैं अथवा बुरा व्यवहार करते हैं -

---

1- सूरसागर (ना० प्र० ग्र०) पद 83 - पृ० 23
2- सूरसागर (ना० प्र० ग्र०) पद1683 - पृ० 660
3- सूरसागर (ना० प्र० ग्र०) पद2216 - पृ० 95

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं ।

× × × × × × × ×

जिन लोगनि सौं नेह करते है, तेई देखि घिनैहैं ।
घर के कहत सबारे काढौ, भूत होइ धरि खैहैं ।
जिन पुत्रनिहिंबहुत प्रतिपाल्यौ, देवी-देव मनैहैं ।
तेई लै खोपरी बांस दै सीस फोरि बिखरैहैं ।[1]

और भी -

"विपति परी तब सब सँग छाँडि, कोउ न आवै नेरे"[2]

अर्थात् सुख में तो सभी अपने होते हैं, किन्तु दुःख आने पर कोई भी साथ नहीं निभाता । इसलिए ये सारे सामाजिक सम्बन्ध स्वार्थ से भरे हैं, अतः त्याज्य हैं । उपर्युक्त विचारधारा बौद्ध धर्म से साम्य रखती है ।

8) **भाग्यवाद** : पुरूषार्थ की अपेक्षा भाग्य का सहारा लेकर कर्तव्यों से पलायन संन्यासियों की प्रवृत्ति रही है । इस भाग्यवाद को अकर्मण्यता का नाम भी दिया जाता है । बौद्ध धर्म में इसी भाग्यवाद का समर्थन है और कृष्ण-भक्ति काव्य में भी भाग्यवाद सर्वोपरी है -

भावी काहू सौं न टरै

× × × × × ×

भावी के बसे तीन लोक हैं, सुर नर देह धरै
सूरदास प्रभु रची सुं ह्वै है, को करि सोच मरै[3]

1- सूरसागर (ना0 प्र0 स0) पद 83 - पृ0 23
2- सूरसागर (ना0 प्र0 स0) पद 79 - पृ0 22
3- सूरसागर (ना0 प्र0 स0) पद 264 - पृ0 71

और भी -

"कियौ गोपाल कौ सब होइ ।
जो मानें पुरूषारथ अपनौ अति सै झूठौ सोइ ।।
सुख-दु:ख लाभ अलाभ सहजगति ताहि न मरिए रोइ ।
जो कछु लेख लिखयौ नन्दनन्दन मैटि सकै नहि कोइ ।।[1]

9§ **भव §पुनर्जन्म§** : बौद्ध-धर्म के अन्तर्गत जो "द्वादस-निदान" की बात आती है, वही भव-चक्र है । अर्थात् द्वादस निदानों के कारण संसार में मनुष्य कर्म बंधन में बद्ध रहकर मुक्त नहीं हो पाता । वह चक्राकार रूप में एक के बाद एक कर्म-बन्धनों में पड़ा रहता है और यही कारण है कि वह बार-बार जन्म लेता और मरता है । अविद्या का जब तक नाश नहीं हो जाता, वह इस भव चक्र से मुक्ति नहीं पाता और बारम्बार जन्म व मृत्यु के चक्र में पिसता रहता है । कृष्ण भक्ति काव्य में भी यह विचार धारा पायी जाती है । उदाहरणार्थ -

फिर फिर ऐसाई है करत ।
जैसे प्रेम पतंग दीप सौं पावक हूँ न डरत ।
भव दु:ख, कूप ज्ञान करि दीपक, देखत प्रकट करत ।[2]

और भी

अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल
काम क्रोध कौ पहिरि चौलना, कंठ विषय की माल ।
मायामोह के नूपुर बाजत, निन्दा शब्द रसाल ।[3]

1- परमानन्द सागर - पद 1340 - पृ0 608
2- सूरसागर §ना0 प्र0 ग्र0§ पद नं0 55 - पृ0 16
3- सूरसागर §ना0 प्र0 ग्र0§ पद नं0 153 - पृ0 42

27

इस प्रकार इस संसार रूपी भवसागर से पार पाने की बात कृष्ण भक्तों के काव्य में भी सहज ही पायी जाती है वे भी संसार के कर्म बन्धनों से मुक्त होना चाहते हैं अर्थात् कर्म बन्धनों से पार पाकर इस जन्म और मृत्यु के आवागमन से छूट जाना चाहते हैं । ध्यातव्य यह है कि कहीं-कहीं इन्हीं मध्यकालीन कृष्ण भक्तों ने संसार के कर्म बन्धनों से तो मुक्त होना चाहा है किन्तु कृष्ण राधा की लीला का गुणगान करने के लिए वे बार-बार जन्म लेने की बात की चाह व्यक्त करते हैं ।

10॥ <u>मनोराज्य</u> : मनोराज्य भी "शरणागति" का सा भाव लिए एक विचार है । शरणागति का बौद्धों की तरह कृष्ण भक्ति काव्य में महत्वपूर्ण स्थान है । प्रभुचरण की ओट पाकर भक्त अपनी आन्तरिक एवं बाह्य सभी प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त होकर तथा यह अनुभव करके कि मुझे प्रभु ने अपना लिया है, वह ॥भक्त॥ निर्द्वन्द्व हो जाता है और अपने पावन मनोराज्य में विचरण करने लगता है । नीचे लिखे पद कृष्ण भक्तों की इसी अवस्था के द्योतक हैं -

हमें नन्द नन्दन मोल लिये ।
यम के फन्द काटि मुस्काए अभय अजात किए ।[1]

× × × × × × ×

कहा कमी जाके राम धनी
मनसा नाथ मनोरथ पूरन सुख निधान जाको मौज धनी ।[2]

अर्थात् ईश्वर अधीन होकर अपने सब सुख-दुःख कर्म-अकर्म भूल कर मात्र कृष्ण भक्ति के द्वारा ही भक्त परमपद पा लेता है । यह बात निश्चित ही बौद्धों

1- सूरसागर ॥ना० प्र० ग्र०॥ - पृ० 171
2- सूरसागर ॥ना० प्र० ग्र०॥ - पृ० 39

|8

(निवृत्ति धर्म) की पलायनवादी प्रवृत्ति से साम्य रखती है क्योंकि बौद्ध धर्म में भी "त्रिशरण" प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति सामाजिक कर्म-बन्धनों से स्वयं को मुक्त समझ लेता है । वह मात्र मन में प्रसन्न रहता है कि उसकी सारी चिन्ताएं अब उसकी न होकर गुरू की हो गयी है, क्योंकि उसने त्रिशरण प्राप्त कर ली है । अत: वह सामाजिक दायित्वों से स्वयं को मुक्त पाता है । यही मनोराज्य की स्थिति कही जाती है जो हमें बौद्धों की तरह कृष्ण भक्ति काव्य में भी सहज प्राप्त हो जाती है ।

III <u>चार ब्रम्ह विहार</u> : बौद्ध दर्शन के अन्तर्गत मैत्री, करूणा मुदिता और उपेक्षा ये चार ब्रम्हविहार माने गये हैं । जो मनुष्य के निर्मल-चित्त की उत्पत्ति के लिए उत्तम साधन कहे गये हैं, तथा जो मनुष्य को राग-द्वेष, ईर्ष्या एवं असूया चित्त के प्रमुख विकारो (मलों) से दूर रखते हैं । उक्त चार ब्रम्ह विहारों में क्रमश: परहित साधन की चिन्ता "मैत्री" है । दूसरो के दु:खों को दूर करने की भावना "करूणा" है । दूसरों के सुखों को देखकर हर्षित होना या मुदित होना "मुदिता" है तथा दूसरों के दोषों की उपेक्षा करना अथवा सब प्राणियों के प्रति पक्षपात रहित (राग-द्वेष से मुक्त) होकर समदर्शी होना "उपेक्षा" है । ध्यातव्य यह है कि इन्हें इसी क्रम से अपनाया जाता है । इनमें से प्रथम तीन साधन-रूपा हैं, अंतिम अर्थात् "उपेक्षा" ही साध्य है जिसका मूलभूत आशय यह है कि मनुष्य मात्र और उनके दु:ख-सुख कर्माधीन हैं, जिनमें कि कोई कुछ नहीं कर सकता । अत: कर्तव्य के अभाव में उपेक्षा का अवलम्बन करके उदासीन प्रवृत्ति अपना लेनी चाहिए ।

उक्त ब्रम्हविहारों की भावना-स्वरूप, कुछ बौद्ध साधकों के इस प्रकार के कथन पाये जाते हैं कि "मैं त्रैलोक्यमयी सृष्टि के समस्त प्राणियों के दु:खों का भार ग्रहण करूँ, जैसी जिसकी आवश्यकता हो उसके अनुरूप साधन बनकर

मैं उनकी सेवा करूँ, मुझसे पहले समस्त प्राणी बोधि प्राप्त करें, एक प्राणी के भी उद्धार के लिए अनन्त करोड़ वर्ष तक मैं जगत में रहूँ" - इत्यादि ।[1] किन्तु अन्यत्र यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ब्रम्ह विहारों की मैत्री आदि लोक व्यवहार की पृथग्जनोचित्त मैत्री आदि से भिन्न है, क्योंकि वे अज्ञान जन्य न होकर ज्ञान जन्य हैं ।[2] इससे यह प्रकट हो जाता है कि ब्रम्ह विहारों की उक्त भव्य भावनाएं मात्र भाव-जगत तक परिसीमित है और व्यवहार जगत के लिए या यूँ कहिए लोक-कल्याण से उनका कोई संबंध नहीं है । वस्तुत: ये कुशल चित्त की दशाएं अथवा वृत्तियाँ मात्र हैं ।

मध्यकालीन अष्टछाप के कृष्ण भक्त कवियों की रचनाओं में जब हम बौद्ध धर्म के प्रभाव की बात करते हैं तो उक्त ब्रम्ह विहारों में प्रयुक्त बौद्धों के विचारों का साम्य कृष्ण-भक्ति-काव्य में भी खोजा जा सकता है । बौद्धों ने चार ब्रम्ह विहारों की जो कल्पना की, उसमें उन्होंने मैत्री, करूणा और मुदिता, तीन को साधन रूप माना और उपेक्षा को साध्य रूप माना है । उनके अनुसार उपेक्षा की भावना का अवलम्बन लेकर सुखी, दुखी, सुकर्मी, कुकर्मी का कोई भेद न करके सबके प्रति समदृष्टि रखनी चाहिए अथवा उदासीन वृत्ति अपना लेनी चाहिए । कृष्ण भक्ति काव्य में भी इस उपेक्षा भाव का अर्थात् उदासीन वृत्ति का निरूपण प्रमुख रूप से हुआ है - उदाहरणार्थ, उपेक्षा के निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं -

1- हरि बिनु मीत नहीं कोउ तेरे

× × × × ×

सूर स्याम बिनु अंतकाल में कोउ न आवत नेरे ।[3]

1- दे० बोधि चर्यावतार (3 / 17 / 21) और शिक्षासमुच्चय - 1-7
(यहाँ श्रेय साधक कबीर - डॉ० रामनाथ शर्मा - पृ० 428 से साभार)

2- दे० आचार्य नरेन्द्र देव - बौद्ध धर्म दर्शन - पृ० 94 - 97

3- सूरसागर (ना० प्र० स०) पद 85

2- अपनैं सुख कौं सब जग बांध्यौ, कोउ काहू कौ नाहीं ।[1]

3- माधौ । सँगति पोच हमारी ।
स्वारथ मीत मिले बहुतेरे, एक आधार तुम्हारी ।[2]

4- भक्त कौ कहा सीकरीसौंकाम ?
× × × × ×
कुंभनदास लाल गिरधर - बिनु यह सब झूठौ धाम ।[3]

5- एक हि आँक जपै गोपाल ।
अब इहै तन जानैं नहीं सखी । और दूसरी चाल ।।
मात-पिता पति-बंधु बैद-विधि तजै तजै जंजाल ।[4]

इस प्रकार बौद्धों के द्वारा मान्य चार ब्रम्हविहारों में उपेक्षा अथवा उदासीनता का भाव कृष्ण भक्ति साहित्य में आसानी से प्राप्त हो जाता है । जो निवृत्ति प्रधान विचारधारा का प्रभाव कहा जा सकता है ।

जैसा हम पहले कह चुके है कि प्रवृत्ति मूलक धर्म और निवृत्ति मूल धर्म दोनों परस्पर विरोधी जीवन पद्धतियाँ हैं । अतः जो जिसको अपनाता है उसका गुणगान करता है और जिसका त्याग करता है उसके दोष देखता है । क्योंकि बौद्ध परम्परा और मध्यकालीन कृष्ण भक्ति दोनों के साधक निवृत्ति मार्गी है । अतः दोनों के साहित्य में एक या दूसरे शब्दों में कर्ममार्ग और प्रवृत्ति लक्षण धर्म की निन्दा, उसके दोषों को गिनाना निश्चित रूप से पाया जाता है । पुष्टिमार्गी भक्ति भी इसका अपवाद नहीं है । अतः उसके साहित्य में भी प्रवृत्ति लक्षण धर्म-कर्म, विचारों का विरोध पाया जाना स्वाभाविक है । जैसा कि हम आगे देखने का प्रयास करते हैं ।

1- सूरसागर (ना0 प्र0 स0) पद 79
2- परमानन्द सागर पद 1235
3- कुम्भनदास, जीवनी, पदसंग्रह और भावार्थ - विद्याविभाग कांकरोली - पद 397 पृ0128
4- चतुर्भुजदास - जीवन-झांकी, पद संग्रह - विद्याविभाग कांकरोली - पद 235 - पृ0 124

31

‡2‡ प्रवृत्ति लक्षण धर्म का विरोध :

‡1‡ वर्णाश्रम व्यवस्था की निन्दा : मानव एक सामाजिक प्राणी होने के नाते एक दूसरे पर निर्भर है । अपनी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति वह स्वयं नहीं कर सकता, क्योंकि हर व्यक्ति की आवश्यकताएं भिन्न-भिन्न हैं । साथ ही शारीरिक क्षमता, अभिव्यक्ति, मानसिकता और अन्य योग्यताएं सब की एक जैसी नहीं होती । इसलिए किसी भी सामाजिक व्यवस्था की पहली आवश्यकता है कि प्रत्येक व्यक्ति अथवा समूह अपनी क्षमता, योग्यता तथा रूचि के अनुसार कोई भी कार्य अपनाकर साथ ही अपने वैशिष्ट्य को भी सुरक्षित रखते हुए वह सामूहिक हितों की रक्षा के लिए कार्य करे, अर्थात् सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति में उपकारक बनें । इसी को अंग्रेजी में "डिवीजन ऑव लेबर" तथा हिन्दी में "श्रम विभाजन" कहा गया है । वैदिक परम्परा में भी यही "श्रम-विभाजन" कहा गया है । वैदिक परम्परा में भी यही "श्रम-विभाजन" वर्ण व्यवस्था के रूप में किया गया और चार वर्ण अस्तित्व में आए - ‡1‡ ब्राम्हण, ‡2‡ क्षत्रिय, ‡3‡ वैश्य, तथा ‡4‡ शूद्र । इन चार वर्णों में योग्यता के अनुसार कार्य का विभाजन हुआ । कालान्तर में जब योग्यता की अपेक्षा जन्म के आधार पर व्यक्ति की परख की गई तो वर्ण-व्यवस्था ने जाति व्यवस्था का रूप ले लिया और इस प्रकार वर्ण व्यवस्था अब जाति व्यवस्था में परिवर्तित हो गई । बौद्ध धर्म में वर्ण व्यवस्था को मान्यता नहीं दी गई । भगवान बुद्ध के अनुसार -

"मा जाति पुच्छ चरणं च पुच्छ, कट्ठा हवे जायति जातवेदो
नीचाकुली नोपि मुनिधितीमा आजनियो होति हिरीनिसेधी ।[1]

1- संयुक्त निकाय - 7 - 19

इसी आधार पर वैष्णव भक्त परम्परा, विशेष कर मध्यकालीन कृष्ण भक्ति काव्य परम्परा में भी वर्णव्यवस्था को अमान्यता दी गई। "भागवत भक्ति के क्षेत्र में वर्ण-धर्म को शिथिल कर देने का श्रेय बौद्ध-धर्म को प्राप्त है"।[1]

कहयौ सुक श्री भागवत् विचार
जाति-पाँति कोउ पूछत नहीं श्री पति के दरबार।[2]

तथा

बिनु गोपाल द्विज जनम न भावै।

॥॥ <u>वैदिक कर्मकाण्डों को अमान्यता</u> : जैसा कि पहले कहा जा चुका है, बौद्ध धर्म में वैदिक देवता, यज्ञ, पशु हिंसा, वर्णाश्रम व्यवस्था का विरोध किया गया था। मध्यकालीन कृष्ण भक्ति में भी यह प्रवृत्ति प्रचुर मात्रा में खोजी जा सकती है। उदाहरणार्थ वहाँ बौद्धों की तरह वैदिक देवता इन्द्र के महत्व को लघु करके दिखाया गया है। देखिए -

"इन्द्र समान हैं जाके सेवक, नर बपुरे की कहा गनी"[3]

और देखिए -

"बूड़त ते ब्रज राखि लियौ है, मेटि इन्द्र को गारयौ"।[4]
बाद-बिबाद, जज्ञ-ब्रज-साधन
कितहूँ जाइ जनम डहकावै।[5]

1- डॉ० मुंशीराम शर्मा, भक्ति का विकास - पृ० 326
2- सूरसागर ॥ना० प्र० ग्र०॥ पद संख्या 231 - पृ० 63
3- सूरसागर ॥ना० प्र० ग्र०॥ पद संख्या 39 - पृ० 12
4- सूरसागर ॥ना० प्र० ग्र०॥ पद संख्या 39 - पृ० 18
5- सूरसागर ॥ना० प्र० ग्र०॥ पद संख्या 39 - पृ० 18

33

इसी प्रकार वेद निन्दा का एक अन्य उदाहरण दृष्टव्य है -

"पाखण्ड-दंभ बढ़यो कलिजुग में सुद्ध धरम भयो लोप ।
परमानन्द बेद पढ़ि बिगरयो का पर, कीजै कोप"।।[1]

आगे पुष्टिमार्गी भक्ति साधना पर बौद्ध तांत्रिक परम्परा का प्रभाव देखने का प्रयास करेंगे किन्तु इससे पूर्व इतना स्पष्ट कर देना निरर्थक न होगा कि जिसे पुष्टिमार्गी भक्ति कहते हैं साधना के स्तर भेद से उसके मुख्य दो स्वरूप माने गये हैं - ॥1॥ साधना रूपा और ॥2॥ साध्य रूपा । इसी को क्रमशः नवधा भक्ति और प्रेम लक्षणा ॥अथवा दशधा॥ भक्ति नाम भी दिये गये हैं । बौद्ध तांत्रिक साधना में भी साधनाके स्तर के भेदों के अनुसार इसी प्रकार के दो भेद माने गये हैं, जिन्हें क्रमशः अनुत्तर पूजा व राग साधना के नाम से जाना जाता है । आगे इसी की पार्श्व भूमिका को अपनाकर मध्यकालीन पुष्टिमार्गी कृष्ण भक्ति पर बौद्ध-धर्म परम्परा का प्रभाव देखने का प्रयास अभिप्रेत हैं ।

5॥ <u>बौद्ध धर्म का पुष्टिमार्गी साधना पक्ष पर प्रभाव</u> :

1॥ <u>बौद्धों की अनुत्तर पूजा और कृष्ण भक्ति काव्य में वर्णित नवधा भक्ति</u> :

जैसा हमने पूर्ववर्ती अध्याय में देखा कि महायान में, और तत्पश्चात् वज्रयान में भी बोधिचित्तोत्पाद हेतु "अनुत्तर पूजा" का विधान था । "धर्म संग्रह" के अनुसार - इस अनुत्तर पूजा के सात अंग इस प्रकार हैं - वन्दना, पूजना, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, अध्येषणा, बोधिचित्तोत्पाद और परिणामना ।

1- परमानन्द सागर - पद नं0 1328 - पृ0 596

बोधिचर्यावतार के टीकाकार प्रज्ञाकरमति के अनुसार इसके आठ अंग हैं, जो इस प्रकार हैं - वंदन, पूजन, शरणगमन, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, और बुद्धाध्येषणा, याचना और बोधिपरिणामना । भागवत् में भी नवधा भक्ति का विस्तार पूर्वक वर्णन आता है । मध्य कालीन कृष्ण-भक्ति-परम्परा के पुष्टिमार्गी कवियों ने इसी नवधा भक्ति की परम्परा का निर्वाह किया जिसके नौ अंग इस प्रकार हैं - श्रवण, स्मरण, कीर्तन, पादसेवन, वन्दन और अर्चन, दास्य सख्य और आत्मनिवेदन ; नवधा भक्ति बौद्धों की अनुत्तर पूजा से किस प्रकार समानता लिए हुए है - यह अब हमें देखना है ।

<u>वन्दन और पूजन</u> : सामान्यत: वंदना, स्तुति को कहते हैं और पूजा अर्चना को, अर्थात् उपचार विधि से की गई पूजा को ।

किन्तु अनुत्तर पूजा मनोयोग पूजा है । इस मनोयोग-पूजा की उपयुक्तता के विषय में शांतिदेव का कथन है -

अपुण्यवानस्मि महादरिद्र: पूजार्थमन्यन्मम नास्ति किन्चिद
अतो ममार्थाय चित्ता गृहणन्तु नाथादमात्मशक्त्या ।।
(बोधि - परि0 2/7)

अर्थात् मैंने पुण्य नहीं किया है, मैं महादरिद्र हूँ, इसलिए पूजा की कोई सामग्री मेरे पास नहीं है । भगवान महाकारूणिक और सर्वभूत हित में रत हैं । अत: इस पूजोपकरण को नाथ (आप) ग्रहण करें । अकिंचन होने के कारण आकाश धातु का जहाँ तक विस्तार है । तत्पर्यन्थ निरवशेष पुष्प, फल, भैषज्य, रत्न जल, रत्नमय पर्वत, वन-प्रदेश, पुष्पलता, वृक्ष कल्पवृक्ष, मनोहर तडाग तथा जितनी अन्य उपहार वस्तुएँ प्राप्त हैं, उन सब को बुद्धों तथा बोधिसत्वों के प्रति वह दान करता है । वही अनुत्तर दक्षिणा है ।[1] कृष्ण भक्तिकाव्य में

1- आचार्य नरेन्द्र देव - बौ० धर्म दर्शन - पृ0 187 से साभार

35

यह भाव इस प्रकार देखा जा सकता है -

"सूर धन्य तिनके पितु माता भाव भजन है जाके"[1]

कृष्ण-भक्ति काव्य में वन्दना पूजा के अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं जो कि बौद्धों के अनुत्तर पूजा में प्रयुक्त वन्दन और पूजा से साम्य रखते हैं -

तुम्हारी भक्ति हमारे प्रान ।
छूटि गये कैसे जन जीवन ज्यों पानी बिन प्रान[2]

<u>पाद सेवन और अर्चन</u> : बौद्धों के अनुत्तर पूजा के अन्तर्गत पाद सेवन अर्थात् चरण वन्दना का प्राविधान है और यही चरण-पूजा तथा अर्चना हम मध्यकालीन पुष्टिमार्गीय भक्ति (कृष्ण भक्ति) में देखते हैं उदाहरणार्थ -

1) चरण कमल बन्दौं हरिराइ[3]
2) बन्दौ चरन सरोज तिहारे[4]

और भी -

3) चरण कमल बन्दौं जगदीश जे गोधन के संग धाए[5]
4) यह मांगो जसोदा नंदन
चरण कमल मेरो मन-मधुकर या छवि नैननि पाऊँ दरसन[6] ।

1- सूरसागर (ना० प्र० ग्र०) पद 1796
2- सूरसागर (ना० प्र० ग्र०) पद 169
3- सूरसागर (ना० प्र० ग्र०) पद नं० 1 - पृ० 1
4- सूरसागर (ना० प्र० ग्र०) पद 94 - पृ० 25
5- परमानन्द सागर - पद 1299 - पृ० 582
6- परमानन्द सागर - पद 1349 - पृ० 606

बौद्धों की अनुत्तर पूजा में अर्चन का भी अपना महत्व है । भगवान बुद्ध को अवतार मानकर उनकी प्रतिमाओं का मन्दिरों में स्थापन करके पूजन अर्चन का विधान महायानियों ने प्रारम्भ कर दिया था । मध्यकालीन पुष्टिमार्गीय कृष्ण भक्ति काव्य परम्परा में भी भगवान श्रीकृष्ण की पूजा का मन्दिरों में भव्य आयोजन होता था । उनके अनुयायी "अष्टयाम पूजा" में जो आठों पहर चलती है, भाग लेते हैं । कहने का तात्पर्य यह कि बौद्धों में जो भगवान बुद्ध की पूजा अर्चना का रूप है लगभग वही स्वरूप नवधा भक्ति में कृष्ण भक्ति के अन्तर्गत पाया जाता है ।

<u>आत्मनिवेदन</u> : बौद्धों की अनुत्तर पूजा में प्रस्तुत बातों का निरूपण याचना और पापदेशना के रूप में हुआ है । कृष्ण भक्ति काव्य में भक्तों ने स्वयं को ईश्वर का कभी दास तो कभी सखा माना और कहीं कहीं अपने अवगुणों का बखान करते हुए अपने काव्य में क्षमा के लिए प्रार्थना की । जो कि बौद्धों की पापदेशना के समान है । कहीं कहीं स्वयं को तुच्छ पापी कामी आदि मान कर श्रीकृष्ण से अपने उद्धार हेतु प्रार्थना की गई है । इस प्रकार जो बौद्धों की पापदेशना है उसी का मिलता-जुलता रूप हम कृष्णभक्ति काव्य में आत्म निवेदन के रूप में देख सकते हैं -

"विनती करत मर हौं लाज ।
नखसिख लौं मेरी यह देही है पाप की जहाज[1]

× × × × × ×

"हौं तौ पतित सात पीढ़िन कौ, पतितै है निस्तारिहौ
अब हौं उधरि नच्यो चाहत हौं, तुम्हें विरद बिन करिहौं ।
कत अपनी परतीति नसावत, मैं पायौ हरि हीरा ।
सूर पतित तब हो उठि हैं, प्रभु, जब हँसि दे हौ वीरा"

(सूरसागर)

अथवा

1- सूरसागर (ना0 प्र0 स0) - पद 95 - पृ0 25

7

मैं सब पतितन को टीको ।।
मो सम कौन कुटिल खल कली ।।[1]

शरणागति : बौद्धों में बुद्ध, धर्म और संघ - इन तीन की शरण प्रसिद्ध है। जैसा कि हम जानते हैं इनकी शरण स्वीकारने पर ही व्यक्ति बौद्ध-धर्म में प्रवेश का अधिकारी माना जाता है। शरणागति कृष्ण भक्ति में भी अपना विशिष्ट महत्व रखती है। शरणागति का ऐसा ही महत्व मैं पुष्टिमार्गीय कृष्ण-भक्ति काव्य में आसानी से प्राप्त हो जाता है। यहाँ पर भी तन, मन, धन से श्रीकृष्ण की शरण चाहने पर ही व्यक्ति सच्चे अर्थों में भगवान का अनुग्रह (पुष्टि) प्राप्त कर सकता है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं -

तन मन धन वारि देत है अनंद,
करत आरती श्री मुख पर "गोविन्द मकरन्द"[2]

x x x x x x x

तन मन प्रान समर्पन कीनों श्री भागवत् विधि नई सिखाई।[3]

x x x x x x x

नहिं कछु और तत्व त्रिभुवन में कुंभनदास शरणागत रहु रे।[4]

भक्तों को एक मात्र पुष्टिमार्गी उपदेश है - पूर्ण निष्ठा से भगवान का सर्वथा सर्वदा भजन व समर्पण। प्रभु सेवा में सम्पूर्ण निष्ठा ही भक्त का उद्धार कर सकती है। भगवान के प्रति समर्पणभाव से जीव कृतार्थ हो जाता है।

1- सूरसागर (ना० प्र० स०) - पद 466 - पृ० 337
2- गोविन्दस्वामी (वार्ता और पद संग्रह) पद 105 - पृ० 51
3- छीतस्वामी (जीवनी और पद संग्रह) पद 188 - पृ० 79
4- कुंभनदास (जीवनी और पद संग्रह) पद 400 - पृ० 128

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिप:
स्वस्यामेव धर्मो हि नान्य: क्वापि कदाचन ।।
(चतु: श्लोकि, श्लोक-1)

यह सेवा (अथवा समर्पण) तीन प्रकार से होती है - (1) तनुजा - अपने शरीर से। भगवान के निमित्त ही अपने शरीर तथा उसके व्यापारों का एकनिष्ठ से समर्पण। (2) वित्तजा - अपने धन से अथवा सम्पत्ति से। (3) मानसी - मन के द्वारा भगवान की सेवा। सच्चे भक्त का यही परम कर्तव्य है कि वह इन त्रिविध सेवाओं के द्वारा भगवान कृष्ण की उपासना दत्तचित्त हो कर करे। सर्वात्मना सर्वथा सर्वदा समर्पण ही पुष्टि मार्गी प्रपत्ति अथवा शरणागति का स्वरूप है।

आचार्य वल्लभ ने जीव तीन प्रकार के माने हैं। पहले हैं - पुष्टि जीव - जो भगवान के अनुग्रह का ही भरोसा रखते हैं और नित्यलीला में प्रवेश पाते हैं। दूसरे हैं - मर्यादाजीव - जो वेद की विधियों का अनुशरण करते हैं और स्वर्ग आदि लोक प्राप्त करते हैं और तीसरे प्रकार के जीव हैं प्रवाह जीव - जो संसार के प्रवाह में पड़े सांसारिक सुखों की प्राप्ति में ही लगे रहते हैं। वल्लभाचार्य के अनुसार पुष्टिजीव ही सर्वोत्तम है क्योंकि वह सर्वात्म भावेन समर्पण के साथ ईश्वर (श्रीकृष्ण) की शरण में रह कर पुष्टि प्राप्त करता है। इस प्रकार शरणागति का इस सम्प्रदाय में बौद्धों की तरह सर्वाधिक महत्व है। इसीलिए कुम्भनदास कहते हैं कि उनकी मन वचन और कर्मों से यही चाह है कि वे मात्र श्रीकृष्ण की शरण में रहें -

श्री घनस्याम सुटधाम जग जीवन
मन वच क्रम एहो चाह वहु रे।
नहिं कुछ और त्रिभुवन में,
कुम्भनदास शरणागत रहु रे।[1]

1- कुम्भनदास - प्रकाशक - विद्याविभाग कांकरोली - पद 400 - पृ0 128

इसी प्रकार सर्वस्व अर्पण करने की बात कही गयी है -

कुम्भनदास लाल गिरिधर पै
अपनौ सर्वस्व वारिए ।[1]

इस प्रकार भगवान कृष्ण को अपनी समस्त वस्तुवों, भावों सहित अपने को भी समर्पण कर देना पुष्टिमार्ग में ब्रम्ह भाव की प्राप्ति अथवा पुष्टि माना गया है । जिसे पाने के लिए भक्त तत्पर रहता है । क्योंकि पुष्टि की प्राप्ति ही मुक्ति है और यह शरणागति द्वारा ही प्राप्त हो सकती है । बौद्ध-धर्म की तरह शरणागति का यहाँ विशेष महत्व है । जो कि बौद्ध-धर्म का प्रभाव परिलक्षित होता है ।

।।। **मूर्ति पूजा** : महायानी बौद्ध धर्म में सर्व-प्रथम चैत्य-पूजा का प्रचलन प्रारम्भ हुआ । साथ ही इनके द्वारा भगवान बुद्ध की मूर्तियाँ बनाकर उनकी पूजा-अर्चना की जाने लगी । इस प्रकार मूर्ति पूजा का प्रारम्भ हुआ । जैसा कि डॉ० भरतसिंह उपाध्याय का मानना है - "महायान की अनेक देनों में से एक मूर्ति-पूजा भी है, जिसे भारतीय धर्म-साधना को उसने दिया"।[2] हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में कृष्ण सम्प्रदायों में भी श्रीकृष्ण की मन्दिरों में मूर्तियाँ स्थापित की जाने लगी और उनका भव्य-पूजन समारोह आदि किया जाने लगा । पुष्टि सम्प्रदाय में कृष्ण की मूर्ति पूजा का अपना विशिष्ट स्थान है । कृष्ण की अष्टयाम पूजा (आठों पहर) की जाती है साथ ही कीर्तन भजन का आयोजन भी रहता है । अष्टयाम सेवा विधि आठ प्रकार की है -
(1) मंगला, (2) श्रृंगार, (3) ग्वाल, (4) राजभोग,
(5) उत्थापन, (6) भोग, (7) संध्या आरती (8) शयन । प्राय: यह पूजा गुरू अथवा महाराज के घर अथवा मन्दिर में की जाती है और इसलिए भक्त जनों को यहाँ पर नियमित रूप से भेंट लेकर पहुँचना ही पड़ता है ।[3]

1- कुम्भनदास - प्रकाशक - विद्याविभाग कांकरोली - पद 77 - पृ० 45
2- बौद्ध-दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन - पृ० 203
3- दे० डॉ० आर०जी० भण्डारकर, वैष्णव, शैव व अन्य धर्म - पृ० 122

पुष्टिसम्प्रदाय के अन्तर्गत मान्यता है कि संवत् 1549 वि0 में वल्लभाचार्य ब्रज आए तो उन्होंने गोवर्धन से श्रीनाथजी के स्वरूप को निकालकर वहीं उन्हें एक छोटे से मन्दिर में स्थापित किया ।[1] अष्टछापी कृष्ण भक्त कवियों ने इन्हीं श्रीनाथजी के विभिन्न स्वरूपों का यशगान किया और अनेक पदों की रचना की -

वृंदावन अद्भुत छवि नाचत रंग भीने ।
उघटत गति अति सुदेस सीस मुकुट दीने ।।
काछिनी कटि अति सुदेस लाल अम्बर सोहे ।
"गोविन्द" प्रभु गिरिवरधर ब्रजजन मन मोहे ।।[2]

तथा

राधिका रवन, गिरिधरन, गोपीनाथ,
मदनमोहन, कृष्ण नटवर, बिहारी ।
रासक्रीडा - रसिक, ब्रजयुवति - प्रानपति,
सकल दुःखहरण, गो-गननि चारी ।[3]

और भी -

सुन्दर मुख की हौं बलि-बलि जाऊँ
लावनि निधि गुन निधि सोभा निधि
देखि देखि जीवत सब गाऊँ ।[4]

1- डॉ0 दीनदयालु गुप्त, अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय - प्रथम भाग - पृ0 71
2- गोविन्दस्वामी (साहित्यिक विश्लेषण, वार्ता और पदसंग्रह कांकरोली - पद 93
3- छीतस्वामी (साहित्यिक विश्लेषण, वार्ता और पदसंग्रह कांकरोली) - पृ0 33
4- परमानन्दसागर - पद 535 - पृ0 236

कृष्ण के साथ राधा की मूर्ति की स्थापना या युगल उपासना, पूजा सम्भवत: कृष्णभक्ति पर बंगाली प्रभाव के कारण भी हो सकती है, क्योंकि कृष्ण व राधा की युगल उपासना का प्रचलन मुख्य रूप से चैतन्य सम्प्रदाय में प्रारम्भ हुआ जो कि पूर्वी प्रान्त (बंगाल) के थे । बंगाल के "प्रेम विलास" और "भक्ति रत्नाकर" नाम ग्रन्थों से पता चलता है कि चैतन्य देव के प्रधान शिष्य श्री नित्यानन्द प्रभु की छोटी पत्नी जाह्नवी देवी जब वृन्दावन गयीं तो उन्हें यह देखकर बड़ा दु:ख हुआ कि श्रीकृष्ण के साथ श्री राधिका की मूर्ति की कहीं पूजा नहीं होती थी । घर लौटकर उन्होंने नयान भास्कर नामक मूर्तिकार से श्रीराधिका की मूर्ति बनवायी और उन्हें वृन्दावन भिजवाया । जीव गोस्वामी की आज्ञा से ये मूर्तियाँ भगवान के पार्श्व में रखी गयीं और तभी से श्रीकृष्ण के साथ राधिका की भी पूजा होने लगी ।[1]

(111) गुरू भक्ति) बौद्ध धर्म में गुरू का स्थान सर्वोच्च है यहाँ तक कि महायानी बौद्ध धर्म में आगे चलकर गुरू व ईश्वर में एकरूपता देखी जाने लगी अर्थात् गुरू ही ईश्वर (बुद्ध) बन गया । गुरू भक्ति के रूप में तो भक्ति बुद्ध के प्राथमिक शिष्यों में भी विद्यमान थी । भगवान बुद्ध के परम अग्रणीय शिष्य सारिपुत्र का उनके प्रति उद्गार - "मार सेना का दमन करने वाले बुद्ध, एक ही के प्रति श्रद्धा रखना, एक ही की शरण में जाना, एक ही को प्रणाम करना, भव-सागर से तार सकता है"।[2] सरहपा की उक्ति देखिए -

"चित्त अचित्तहिं परिहरहु तिमि होवहु जिमि बाल
गुरू वचने दृढ़ भक्ति करू ज्यों होइ सहज उलास"।[3]

1- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य, उद्भव और विकास - पृ0 66 से साभार ।

2- डॉ0 भरतसिंह उपाध्याय, बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन - पृ0 1068

3- राहुल सांकृत्यायन, हिन्दी काव्य धारा - पृ0 17

गुरू के प्रति अनन्य भक्ति का यह उत्कृष्ट उदाहरण है । पुष्टिमार्गीय वैष्णव धर्म में गुरू को ऐसा ही महत्त्व प्राप्त है और यही कारण है कि मध्यकालीन कृष्ण भक्ति काव्य में कवियों ने गुरू को ईश्वर के रूप में देखा -

हरि गुरू एक रूप नृप जानि,
यामें कुछु सन्देह न आनि ।
गुरू प्रसन्न हरि परसन होई,
गुरू कैं दुखित दुखित हरि जोई ।

× × × × ×

ताते हरि गुरू सेवा कीजैं मेरौ वचन मानि यह लीजै[1]

× × × × × × × ×

अथवा

भरोसौं दृढ़ इन चरननि केरौ
श्री वल्लभ नरव चन्द्र छटा बिनु सब जग मांझ अंधेरौ ।।
साधन और नहीं या कलि में जासों होत निबेरौ ।।
"सूर" कहा कहै द्विविध आंधरौ, बिना मोल कौ चेरौ ।।

§सूरसागर§

श्री विट्ठलनाथ गोकुल - भूप ।
भक्त-हित कलियुग कृपा करि धरे प्रकट स्वरूप ।।
सकल धर्म धुरंधरन हरि भक्ति निजु दृढ़ जूप ।।
चरन अबुंज सिरसि परसत, सोष कर अंधकूप ।।

1- सूरसागर §ना0 प्र0 ग्र0§ पद 416

43

आपु ही सेवा सिखावत, सकल रीति अनूप ।
भोग राग सिंगार नाना चरचि दीप रू धूप ।।
"चत्रुभुज" प्रभु गिरिधरन जुग बपु लीला सदा अछूत ।
नंद-नन्दन, बल्लभ-नंदन, एक मन द्वै रूप ।।[1]

इसी प्रकार छीतस्वामी अपने गुरू (श्री विट्ठलनाथजी) को ईश्वर के रूप में अवतरित मानते हैं । जिन्होंने पतित उद्धार किया, वेद पथ को छोड़, रास के निमित्त अनेक मार्ग सुझाए तथा जिन्होंने पतितजन स्त्री आदि को ब्रम्ह सम्बन्ध करवा कर उनका उद्धार किया -

"श्री विट्ठल प्रगटे ब्रजनाथ ।
नन्दनन्दन कलियुग में आये, निज जन किए सनाथ ।।
तब असुरनि को नास कियो हरि, अब मायामत नासे ।
तब के वेद-पथ छाँडि रास-मिस नाना भाँति बताए ।।
अबके स्त्री सूद्रादिक, सब कौं ब्रम्ह सम्बन्ध कराए ।
इहि बिध प्रकट करी ब्रजलीला श्री वल्लभराज दुलारै ।।
छीत स्वामी गिरिधरन श्री विट्ठल इनको वेद पुकारै ।[2]

इस प्रकार कृष्ण भक्ति में गुरू भक्ति अथवा गुरू को ईश्वर के रूप में प्रतिष्ठित करना बौद्ध धर्म के प्रभाव को परिलक्षित करता है । वहाँ भी गुरू ही बुद्ध है (अथवा भगवान है) । गुरू की श्रेष्ठता बौद्धों की तरह कृष्ण भक्ति काव्य में विशेष महत्व रखती है ।

(1) <u>अवतारवाद</u> : 'मायावाद और अवतारवाद के सिद्धान्त पहले बौद्ध साधना में प्रकट हुए । यह आश्चर्यजनक लगते हुए भी एक ऐतिहासिक तथ्य है ।[3] जैसा हमने पहले देखा कि महायानी बौद्ध-धर्म में महायानियों ने

1- चतुर्भुजदास (प्रकाशन, विद्याविभाग कांकरोली) - पद 54 - पृ0 28
2- छीतस्वामी (विद्याविभाग कांकरोली प्रकाशन) - पद 28 - पृ0 11
3- डॉ0 भरतसिंह उपाध्याय, बौद्ध-दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन - पृ0 1058

भगवान बुद्ध को एक अवतार के रूप में अवतरित मानना आरम्भ कर दिया। बौद्ध जातक कथाओं में बुद्ध भगवान के अनेक जन्मों की कथाएं मिलती है। इनके अनुसार भगवान बुद्ध द्वारा तीन (अथवा चार) बार "धर्म चक्र प्रवर्तन" किया गया जो कि बुद्ध के द्वारा भिन्न भिन्न समय पर, भिन्न-भिन्न जगहों पर अवतरित होकर किया गया था। यह अवतारवाद हमें वैष्णव भक्ति परम्परा में भी उपलब्ध होता है। श्रीमद् भागवत् पुराण के एकादश स्कन्ध में कृष्ण के अवतारों के अन्तर्गत उनके बुद्ध रूप में अवतार लेने की बात इस प्रकार कही गयी है -

> भूमिर्भरावतरणाय यदुष्वजन्मा
> जातः करिष्यति सुरैरपि दुष्कराणि ।
> वादैर्विमोहयति यज्ञकृतोऽतदर्हान्
> शूद्रान कलौ क्षितिभुजोन्यहनिष्यदन्ते ।।

(श्रीमद् भागवत् पुराण 11/4/28)

भावार्थ - "अजन्मा होने पर भी पृथ्वी का भार उतारने के लिए वे ही भगवान यदुवंश में जन्म लेंगे और ऐसे-ऐसे कर्म करेंगे, जिन्हें बड़े-बड़े देवता भी नहीं कर सकते। फिर आगे चलकर भगवान ही बुद्ध के रूप में प्रकट होंगे और यज्ञ के अनाधिकारियों को यज्ञ करते देखकर अनेक प्रकार के तर्क-वितर्कों से मोहित कर लेंगे और कलियुग के अन्त में कल्कि अवतार लेकर वे ही शूद्र राजाओं का वध करेंगे"।

श्रीमद् भागवत् पुराण में बुद्ध के रूप में कृष्ण के दशम् अवतार की जो बात कही गयी है, उसी आधार पर मध्यकालीन कृष्ण भक्तों ने भी बुद्ध के रूप में श्रीकृष्ण के अवतार का वर्णन इस प्रकार किया है -

> वासुदेव सोई भयौ, बुद्ध भयौ पुनि सोई ।
> सोई कल्की होइहैं, और न द्वितीया कोई ।।[1]

1- सूरसागर (ना0 प्र0 स0) पद 36 - पृ0 104

इस प्रकार कृष्ण भक्तों ने भागवत् को प्रमाण मानते हुए कृष्ण व बुद्ध में एकरूपता का निरूपण किया है। ये सभी अष्टछापी भक्त कवि भागवत् को प्रमाण मानते हैं -

सूरदास हरि को जस गायौ
श्री भागवतऽनुसारी ।[1]

एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है जिसमें बुद्ध को कृष्ण का ही दशम् अवतार माना गया है -

"बौद्ध-रूप जैसे हरि धारयौ । अदितिसुतनि को कारज साध्यौ।"[2]

अतः वैष्णव भक्ति (कृष्णभक्ति) में अवतारवाद बौद्ध-धर्म की परम्परा से गृहीत किया गया लगता है। साथ ही उक्त सन्दर्भ में मध्यकालीन भागवत् वैष्णवों के आराध्य अहर्निश रास में निरत कृष्ण भगवान और अश्वघोष के पौराणिक बुद्ध के बीच परम्परागत सम्बन्ध की प्रच्छन्न स्वीकृति भी सम्भव है।

आगे भक्ति के द्वितीय स्वरूप (प्रेम लक्षणा) पर बौद्ध तान्त्रिकों की राग साधना का प्रभाव देखने का प्रयास करते हैं।

6) <u>बौद्ध तान्त्रिक राग साधना तथा पुष्टिमार्गी कृष्ण भक्ति में राग तत्व</u> :

जैसा हम पहले स्पष्ट कर आये हैं कि "भक्ति" एक राग-साधना है, अतः इस परिप्रेक्ष्य में हम मध्यकालीन कृष्ण भक्ति में आये श्रृंगारिक प्रसंगों को देखते हैं तो स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि कृष्णभक्ति काव्य में भी रागसाधना प्रमुख है।

1- सूरसागर (ना० प्र० ग्र०) पद 576 - पृ० 575
2- सूरसागर (ना० प्र० ग्र०) पद4933 - पृ० 588

भक्ति में राग तत्त्व एक ऐसी परम्परा से आया हुआ लगता है जो कि अवैदिक है। इस बात का स्मरण रखते हुए हम देखते हैं कि बौद्ध तांत्रिक सम्प्रदायों में प्रचलित कृष्ण व राधा के युगल स्वरूप की साधना में गहरा साम्य है। अर्थात् वहाँ बौद्ध तांत्रिकों ने स्त्री व पुरूष के सम्बन्धों को प्रज्ञा व उपाय नाम देकर उनके लौकिक सम्बन्धों का ही निरूपण प्राय: किया है, तो कृष्ण भक्तों ने भी कृष्ण व राधा का नाम रूप लेकर लौकिक श्रृंगार का ही वर्णन अधिक किया है। बौद्धों की भुक्ति-मुक्ति दायक साधना का समर्थन यहाँ भी हुआ है। अर्थात् बौद्धों की - "रागेव बध्यते-लोको, रागनैव विमुच्यते (राग से ही मनुष्य बन्धन में पड़ता है, राग से ही मुक्त भी होता है)" विचारधारा को हम कृष्ण भक्त कवियों में भी देखते हैं - सूर ने इसी विचार को ऐसे प्रकट किया -

"प्रेम, प्रेम ते होइ प्रेम तें पारहिं पैये।
प्रेम बंध्यौ संसार प्रेम परमारथं लहिये।।
एकै निश्चय प्रेम कौ जीवन मुक्ति रसाल।
साँचौ निश्चय प्रेम को जेहि रे मिलें गोपाल"।।[1]

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कृष्ण व राधा की युगल उपासना का प्रचलन मुख्य रूप से चैतन्य-सम्प्रदाय में प्रारम्भ हुआ जो कि पूर्वी प्रान्त (बंगाल) के थे। चैतन्य वैष्णव सहजियाओं के काव्य से बहुत प्रभावित थे। बाद में जब चैतन्य के शिष्यों ने वृन्दावन में रहना प्रारम्भ किया तब - "कृष्ण चरित के गान में गीतिकाव्य की जो धारा पूरब में जयदेव और विद्यापति ने बहाई उसी का अवलम्बन ब्रज के भक्त कवियों ने किया"।[2] वल्लभ सम्प्रदायी वार्ता साहित्य से यह बात सिद्ध है कि श्री चैतन्य महाप्रभु तथा श्री वल्लभाचार्य का समागम तो हुआ ही था, वे एक दूसरे की भक्ति से भी प्रभावित हुए थे। श्री वल्लभाचार्य ने सम्भव

1- सूरसागर (ना० प्र० स०) पद संख्या 4713

2- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ० 151

47

है।श्री चैतन्य की भक्ति से प्रभावित होकर ही बंगाली वैष्णवों को श्रीनाथजी की सेवा में रखा हो ।[1] पुष्टिमार्गी कृष्ण भक्ति के अन्तर्गत चैतन्य सम्प्रदाय की प्रेम-लक्षणा भक्ति के प्रभाव को हम निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत देख सकते हैं -

1। कृष्ण व राधा का अद्वय स्वरूप : बौद्ध तांत्रिक साधना में प्रज्ञा तथा उपाय की एकरूपता अथवा समरसता को युगनद्ध कहा गया ।[2] दो का एक हो जाना अद्वय अवस्था है । यहाँ अद्वय का अर्थ है जैसे नमक व पानी दोनों अलग-अलग वस्तुएँ होते हुए घुल कर एक-रूप हो जाते हैं, वैसे ही, प्रज्ञा व उपाय दो अलग होकर भी एक रूप हो जाते हैं । इसी सन्दर्भ में कण्डपा ।सिद्ध। की उक्ति देखिए -

जिमि लोण विलिज्जइ पाणिएहि, तिमि घरिणी लइ चित्त ।
समरस जाई तक्खणे, जइ पुणु ते सम णित्त ।।[3]

कृष्ण भक्ति काव्य में राधा व कृष्ण को अनेक बार एक रूप कहा गया है, अर्थात् कृष्ण व राधा दो होकर भी एक हैं । उनकी यह विचारधारा बौद्धों के "युगनद्ध" का स्मरण कराती है । कृष्ण-काव्य में यह इस रूप में प्रस्तुत हुई है -

राधा माधव भेंट भई ।
राधा माधव, माधव राधा, कीट-भृङ्ग-गति ह्वै जु गई ।
माधव राधा के संग राचि, राधा माधव रंग गई ।[4]

इसी प्रकार -

"यह मन एक, एक वह मूरति, भृंगी-कीट समानै"।[5]

1- दे० अष्टछाप व वल्लभ सम्प्रदाय ।डॉ० दीनदयालु गुप्त। - पृ० 56
2- दे० डॉ० मिथिलेश कान्ति, हिन्दी भक्ति श्रृंगार का स्वरूप - पृ० 39
3- हिन्दी काव्य धारा - ।राहुल सांकृत्यायन। - पृ० 148
4- सूरसागर ।ना० प्र० स०। पद 4292 - पृ० 571
5- सूरसागर ।ना० प्र० स०। पद 3990 - पृ० 490

यही अद्वयता बौद्ध रागसाधना में "युगनद्ध" कहलाती है ।

2. **भोग में योग** : जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, तांत्रिक बौद्ध साधकों का योग भोग-प्रधान था । उनकी प्रायः सारी यौगिक क्रियाएं वाम साधना-प्रधान थीं, क्योंकि उनके अनुसार सांसारिक भोगों को भोगते हुए भी निर्वाण प्राप्त होता है । अतः भोगों को त्यागने की अपेक्षा उनका उपभोग उचित है । सिद्ध कण्डपा ने कहा -

"भनै काण्ह भव भोगतहिं निर्वाणहु सीझे"।[1]

और इन तांत्रिकों का तो सिद्धान्त ही है कि -

खाते पीते सुखंहिं रमन्ते, नित्य पूर्ण चक्रहू भरन्ते,
अइस धर्म सिध्यइ परलोका, नाथ पाइ दलिया भवलोगा ।[2]

संसार के समस्त विषयों का भोग ही यहाँ योग है । कृष्ण भक्ति काव्य में राधा तथा अन्य गोपियों के द्वारा जो योग की निन्दा का वर्णन आता है, सम्भव है, वह बौद्ध तांत्रिकों की उपर्युक्त विचारधारा से प्रभावित रहा हो । उदाहरणार्थ गोपियों की उद्धव से योगविषयक चर्चा देखिए -

ऊधौ तौ हम जोग करैं ।
जो हरि बेगि मिलैं अब हमको, बैसो वेष धरैं ।
कर मुरली उर गुंजनि माला, बाल बच्छ लिए संग ।
बैसेहिं दान जु मागैं हम पै, बाटै अति रस रंग ।
बैसेहि हम मान करैंगी, बे गहि चरन मनावै ।
यातै भली कहा "सूरज" जौ स्याम जोग धरि पावै ।[3]

1- हिन्दी काव्य धारा (राहुल सांकृत्यायन) - पृ० 149
2- हिन्दी काव्य धारा (राहुल सांकृत्यायन) - पृ० 7
3- सूरसागर (ना० प्र० ग्र०) पद 4292 - पृ० 571

49

अथवा - योग सम्बन्धी गोपियों की नवीन परिभाषा -

"हम अलि गोकुलनाथ अराध्यौ ।
मन,क्रम, बच हरि सौं धरि परिब्रज प्रेम जोग तप साध्यौ ।[1]

यहाँ इतना उल्लेख्य होगा कि तान्त्रिक साधना में "योग" का अर्थ "दो का मिलन" लिया गया है - न कि पतंजलि का "चित्तवृत्ति निरोध"।

3। <u>परकीया प्रेम</u> : बौद्ध तांत्रिक सिद्धों विशेषकर सहजयानियों ने मधुर-उपासना को सर्वोच्च स्थान दिया, साथ ही इन्होंने प्रेम की उद्दाम स्थिति परकीया प्रेम में बतलायी । इन्हीं सहजियाओं की विचारधारा वैष्णव सहजियाओं में परिवर्तित ~~होती~~ हुई और फिर इनसे चैतन्य ३गौड़ीय३ सम्प्रदाय प्रभावित हुआ । पुष्टि सम्प्रदाय के अन्तर्गत आचार्य वल्लभ के सुपुत्र विट्ठलनाथजी के समय में मधुरोपासना को इस सम्प्रदाय में बहुत महत्त्व दिया जाने लगा । अपने ग्रन्थ "श्रृंगार मण्डन" में उन्होंने युगल उपासना का प्रतिपादन किया है । सूर-नन्ददास आदि अष्टछाप के प्राय: सभी कवियों ने माधुर्यभाव की इस भावना से संबंधित अनेक पदों की रचना की । लौकिक प्रेम के प्राय: सभी स्वरूप इस मधुराभक्ति में समा जाते हैं, किन्तु इन भक्त कवियों ने उस लौकिक भाव को ईश्वर से जोड़ दिया । लोकपक्ष में जिसे हम श्रृंगार रस कहते हैं, साधना के क्षेत्र में वह प्रेम लक्षणा भक्ति कहलाती है । लोक-व्यवहार में जिसे श्रृंगार-रस कहते हैं, भक्ति में उसे मधुर रस कहते हैं । दोनों का एक ही स्थाई भाव "रति" होने से इनका अन्तर केवल भावना-भेद के आधार पर ही किया जा सकता है । परायी स्त्री के साथ परपुरुष का प्रेम सम्बन्ध या परपुरुष के साथ पर-स्त्री का रागसम्बन्ध होना परकीया प्रेम कहलाता है, जो समाज द्वारा अमान्य एवं निन्द्य है । कृष्ण भक्ति काव्य में प्राय: सभी गोपियाँ विवाहिताएँ हैं जिनके ऊपर सास-ससुर, पति-पुत्र, ननद आदि की नैतिक पाबन्दियाँ हैं । परन्तु वे सभी गोपियाँ कृष्ण प्रेम में रँगी हुई हैं और इस प्रेम के आगे वे

1- सूरसागर ३ना० प्र० स०३ पद 4148 - पृ० 378

इन सामाजिक बन्धनों की अवहेलना करती हैं और कृष्ण से मिलने जाती हैं -

नंद नंदन बिनु कल न परै ।
अति अनुराग भरी जुवती सब,
जहाँ स्याम तहँ चित्त ढरै ।
भवन गई मन जहाँ न लागै ।
गुरू, गुरूजन अति त्रास करैं ।
वै कछु कहैं करै कछु औरैं ।
सासु ननद तिन पर झगरैं ।[1]

और भी देखिए -

सासू ननद घर त्रास दिखावै ।
तुम कुलबधू लाज नहिं आवति, बार-बार समुझावै ।[2]

अथवा

धरम करम लोक लाज सुत पति तजि आई ।
"चत्रभुज" प्रभु गिरिधर मैं जाच्यो मेरी माई ।[3]

भावसाम्य के लिए देखिए - बौद्ध ताँत्रिक सिद्ध की यह उक्ति -

सासु नींदि गइल बहुवा जागै ।
कानेट चोरि लिय कागहिं माँगै ।।
दिवसहिं बहू काग डर खाय ।
राति भइले कामरूप जाय ।।
ऐसन चर्या कुक्कुरि गाये ।
कोटि मांझ एक हियहिं समाये[4] ।।2।।

1- सूरसागर [ना० प्र० ग्र०] - पद 1920 - पृ० 37
2- सूरसागर [ना० प्र० ग्र०] - पद 1921 - पृ० 37
3- चतर्भुजदास [जीवनी और पद संग्रह] पद 184 - पृ० 104 | 4- कुक्कुरीपा - हिन्दी काव्यधारा

यहाँ भी लोक मर्यादाओं के तिलान्जली देती हुई, घर की बहू सासू के सोते ही अपने प्रेमी से मिलने कामरूप चल पड़ती है । कृष्ण भक्ति काव्य में भी हमें प्रेम का यह अमर्यादित स्वरूप गोपी कृष्ण के प्रेम के रूप में सहज ही प्राप्त हो जाता है ।

4। <u>प्रेम की सहज भावना का समर्थन</u> : बौद्धों के अनेक तांत्रिक यानों की परम्परा के अन्तर्गत "सहजयान" की भी गणना आती है । इस मत के अन्तर्गत आने वाले बौद्ध तांत्रिकों ने मनुष्य की सहज (स्वाभाविक) मनोवृत्तियों के दमन करने की अपेक्षा उनके सहज निर्वाह पर बल दिया और बताया कि इस सहज पथ से ही ईश्वर (निर्वाण, सहजसमाधि आदि) को प्राप्त किया जा सकता है । इनका मानना था कि मनुष्य सारे भौतिक सुखों का उपभोग करते हुए भी निर्वाण पद को पा लेता है । युगल मूर्ति को पूर्णता तक पहुँचाने में इस मतवाद का बड़ा हाथ था"।[1] मनुष्य की सहज क्रियाओं, आवश्यकताओं को महत्त्व देते हुए इन लोगों ने भोग में योग को खोजा । इनकी भोग प्रधान प्रवृत्ति में सहज सम्बन्धों का सर्वत्र निरूपण पाया जाता है । ये मानते हैं कि विषयों में दृढ़ रति के बिना क्यों ज्ञान प्राप्त होगा - अर्थात् नहीं होगा । अतः विषयों में रति आवश्यक है -

"रति दृढ़ विषय - रती ना मुँचइ
सरह भणइ परिज्ञान कि मुचई[2] । (सरहपाद)

इस प्रकार की सहज स्वाभाविक सम्बन्धों की बातें हमें कृष्ण भक्ति काव्य में भी देखने को मिलती हैं -

---

1- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, सूर साहित्य - पृ0 34
2- हिन्दी काव्य धारा - (राहुल सांकृत्यायन) सरहपा की उक्ति - पृ0 7

52

राधा माधव सहज सनेही ।
सहज रूप गुन सहज लाडिले एक प्रान द्वै देही ।
सहज माधुरी अंग-अंग प्रति सहज सदा बन गेही ।
"सूर" स्याम स्यामा दोउ सहजहिं सहज प्रीति करि लेहि ।[1]

इस प्रकार राधा और कृष्ण के मध्य जो केलि-विलास है वह भी सहज रूप में अभिव्यक्त होता है । "प्रेम साधना में वल्लभ ने लोक मर्यादा व वेद मर्यादा दोनों का त्याग विधेय ठहराया"।[2] इस प्रकार प्रेम मार्ग में सहज सम्बन्धों का निर्वाह प्रमुख है । क्योंकि वल्लभ मत में आसक्ति को ही माध्यम बनाया गया था, प्रयत्न और पुरूषार्थ की आवश्यकता हीन थी, केवल क्रीड़ा-विनोद जिनकी ओर स्वत: मनुष्य आकर्षित हो जाता है, का बाहुल्य था और वह खतरा उसी अनुपात में बढ़ता गया जिस अनुपात में साधना के प्रति उदासीनता बढ़ी । चूँकि वल्लभ ने भगवान के वैभव व भोग प्रदर्शन की सीमा निर्धारित नहीं की थी अत: साधक की वृत्ति में स्खलन आना स्वाभाविक था । फलत: दम्भ को आगे चल कर प्रश्रय मिल गया । गद्दियाँ (पुष्टि मार्गीय आचार्यों की अथवा पुष्टि मार्गीय परम्परा में आने वाले गुरूवों की) विलास का साधन बनती गईं । फलत: भक्त गायकों के स्थान पर "राधा-कृष्ण" के बहाने से श्लील-अश्लील श्रृंगार का एक छत्र राज्य स्थापित हो गया ।[3] इस प्रकार कृष्ण भक्ति काव्य में प्रेम के सहज सम्बन्धों का निरूपण मर्यादाओं की सीमाओं का अतिक्रमण करने लगा । भक्तों ने प्रेम निरूपण में श्रृंगार के सभी पक्षों को विशेष कर संयोग श्रृंगार को प्रचुर मात्रा में अपने काव्य में स्थान दिया । पुष्टिमार्गी अष्टछापी भक्तों के काव्य में यह सहज प्रेम इस रूप में प्रस्तुत हुआ -

पौढ़ें प्रेम के परजंक ।

1- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ0 144
2- डॉ0 विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि - पृ0 135

अधर-सुधा रस प्यावती प्यारी कमलनि कौ जो अंक ।।
पान करत अघात नहीं, ज्यों निधि पाई रंक ।
"चत्रुभुज" प्रभु गिरिधर पिय जीते, लूट्यो मदन निसंक ।[1]

इस सहज प्रेम के निर्वाह के लिए किसी भी प्रकार की रुकावट के लिए स्थान नहीं -

भोजन भूषन की सुधि नाहीं, तनु को नहीं सम्हार ।
गृह गुरू लाज सूत सौं तोरयो डरी नहीं व्यवहार ।।[2]

इस प्रकार बौद्ध तांत्रिक साधना में जो सहज भावना का निर्वाह था वह कृष्ण भक्ति काव्य में आसानी से देखा जा सकता है ।

5) <u>श्रीकृष्ण प्रत्येक नारी (ब्रज गोपी) के पति हैं</u> : जिस प्रकार बौद्ध तांत्रिकों ने प्रत्येक स्त्री को "प्रज्ञा" व प्रत्येक पुरूष को "उपाय" कहा ठीक उसी प्रकार की भावना हमें मध्य-कालीन कृष्ण भक्ति काव्य में भी देखने को मिलती है । कृष्ण काव्य के अनुसार आत्मा-परमात्मा का ही अंश है । परमात्मा रूपी ईश्वर ने जीवों की सृष्टि अपने सुख के निमित्त की है । इसलिए पुरूष रूपी आत्मा की जीव रूपी सभी स्त्रियाँ उसकी पत्नियाँ है । या यूँ कहें श्रीकृष्ण (परमात्मा) एक मात्र पुरूष हैं, और सारे जीव स्त्री है, वे कृष्ण की पत्नियाँ हैं । ब्रज में इसी भाव के आधार पर श्रीकृष्ण सभी ब्रज युवतियों से भिन्न-भिन्न रूपों में रमण करते हैं । ब्रज गोपिकाएं भी उन्हें अपना पति मानती हैं । उदाहरणार्थ -

---

1- चतुर्भुजदास, जीवन-झांकी, पद संग्रह - विद्याविभाग कांकरोली - पृ0 157
2- सूरसागर - पद संख्या 994 - दशम स्कन्ध

नाना रंग उपजावत स्याम । कोउ रीझति कोउ खीजति बाम ।।
काहू कैं निसि बसत बनाइ । काहू मुख छवै आवत जाई ।।
बहु नायक हवै बिलसत आपु। जाकौ सिव पावत नहिं जापु ।।
ताकौं ब्रजनारी पति जानैं । कोउ आदरै कोउ अपमानैं ।।
काहू सौं कहि आवन साँझ । रहज और नागरि घर माँझ ।।
कबहु रैनि सब संग विहात । सुनहु "सूर" ऐसे नन्दतात ।।[1]

इस प्रकार वैष्णव कवियों में यह विश्वास बढ़ा कि प्रत्येक व्यक्ति में कृष्ण तत्व विधमान है । इस भागवत् तत्व को संज्ञा "स्वरूप" है । इसके अतिरिक्त उसके लौकिक जीवन से मिला हुआ है, वह तत्व रूप कहलाता है, जो राधा का अंश है । अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति कृष्ण व प्रत्येक स्त्री राधा है या यों कहें लौकिक पुरूष व स्त्री वस्तुत: कृष्ण व राधा की ही रूप लीला है ।[2]

6) <u>भुक्ति-मुक्ति प्रधान साधना</u> : जैसा कि हम पहले देख चुके हैं - बौद्ध तांत्रिकों के अनुसार सांसारिक भोगों का भोगकरते हुए भी मनुष्य मुक्ति (निर्वाण) पा सकता है । इनके अनुसार संसार में जितनी भी बन्धनकारक वस्तुएँ हैं उन्हीं से बन्धन मुक्त भी हुआ जा सकता है । बौद्ध साधिका लक्ष्मीकरा कहती है - "यह मनुष्य रूपी जन्तु जिन बातों से बंधता है, उन्हीं से मुक्ति भी होती है"।[3]

यैनैव बंध्यते जन्तुस्तैनैव हि विच्युते ।[3]

उनकी रागसाधना में भोग त्याज्य न होकर भोग्य था । मध्यकालीन कृष्ण भक्तों ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया, अर्थात् प्रेम-पूर्ण भक्ति की महिमा

1- सूरसागर - पद संख्या 3093 - पृ0 145
2- दे0 डॉ0 विश्वम्भरनाथ उपाध्याय - हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि - पृ0 270 पर
3- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - सहज-साधना - पृ0 29

का समर्थन इन्होंने भी किया । यहाँ गोपी-भाव की भक्ति की श्रेष्ठता का महत्व है । कृष्ण कहते हैं -

जोग ~~ध्यान~~ ध्यान करि देखत जोगी, भक्त सदा मोहि प्यारौ ।
ब्रज बनिता भजियौ मोहि नारद, मैं तिन पार उतारौ ।।
नारद ज्यौं हरि अस्तुति कीन्हीं, सुक त्यौं कहि समुझाई ।
सूरज प्रेम-भक्ति की महिमा, श्री पति श्री मुख गायी ।।[1]

गोपियों ने भी योग को नीरस कहकर प्रेम की श्रेष्ठता का गान किया - "ऊधो प्रेम रहित योग निरस काहे को गायो"।

या - प्रेम-भक्ति बिनु मुक्ति न होई, नाथ कृपा करि दीजै सोई ।[2]

अत: गोपियाँ यदि लोकलाज तथा सांसारिक बन्धनों की सुदृढ़ श्रृंखलाओं को तोड़कर कृष्ण-मिलन के हेतु दौड़ पड़ती हैं, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है । भगवान के परम प्रेम के आगे कोई विघ्न-बाधा टिक ही नहीं सकती ।

कहा जाता है कि साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के अनुसार गोपी-कृष्ण का प्रेम स्वकीया प्रेम ही है, क्योंकि गोपियाँ कृष्ण की विवाहिता स्त्रियाँ थीं । "पुष्टिमार्गीय आचार्यों का इस विषय में जो भी मत हो, पुष्टिमार्गीय कवियों की रचनाओं में इस बात को स्वीकृत नहीं किया गया है । नन्ददास ने एक स्थल पर स्पष्ट रूप से कहा है कि परकीया प्रेम ही प्रेम की चरम सीमा है"[3]-

---

1- सूरसागर (ना० प्र० स०) पद 4303 - पृ० 575
2- सूरसागर (ना० प्र० स०) पद 4301 - पृ० 575
3- सम्पादक - उमाशंकर शुक्ल - नन्ददास प्रथम भाग - पृ० 103

रस में जो उपपति-रस आही । रस की अवधि कहत कबि ताही ।।
ृरूप मंजरी - पंक्ति - 166ृ

और इसी प्रेम में मग्न गोपियाँ यह भी कहती हैं -

मोहीं लैं चलि चन्दा मंद, जहँ मोहन सोहन नँद-नँद ।
कहा करैंगे गुरूजन मेरौ, दुरजन क्यौं न हँसौ बहुतेरौ ।[1]

कृष्ण-प्रेम के रूप में पीड़ित गोपियाँ कृष्ण का प्रेम ही औषधि रूप में पाना चाहती हैं । इस प्रेम रूपी औषधि की प्राप्ति के लिए लाज के आवरण की अवहेलना करती हुई कहती हैं -

जाके अंग रोग है महा, औषधि खात लाज है कहा ।[2]

यहाँ बौद्धों ृतांत्रिक सिद्धोंृ की उस बात का स्मरण हो आता है, जहाँ उनका मानना है कि मनुष्य को राग ही बाँधता है और राग से ही बन्धन मुक्ति भी हो सकती है । यहाँ कृष्ण के प्रेम रूपी पीड़ा का उपचार गोपियाँ कृष्ण के प्रेम में ही ढूँढ रही हैं ।

आचार्य शुक्ल लिखते हैं - राधा कृष्ण के प्रेम को लेकर कृष्ण-भक्ति काव्य में जो काव्य-धारा चली उसमें लीला पक्ष अर्थात् बाह्यार्थ विधान की प्रधानता रही है ।[3] प्रेम प्रधान भक्ति में भक्त अपना सर्वस्व अर्पण करके प्रसन्नता का अनुभव करता है । नन्ददास की इन पंक्तियों में यही भाव है -

"माई री लाल आए री मेरे ही महल, तन-मन-धन सब वारों"[4]

1- सम्पादक - उमाशंकर शुक्ल - नन्ददास प्रथम भाग - पृ0 37
2- सम्पादक - उमाशंकर शुक्ल - नन्ददास प्रथम भाग - पृ0 37
3- - हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ0 159
4- नन्ददास ृद्वितीय भाग सम्पा0 उमाशंकर शुक्ल -- पृ0 424

इसी प्रकार चतुर्भुजदास की इन पंक्तियों में यही भाव इस रूप में देखिए -

"आजु हरि होरी खेलन आए ।

× × × × ×

छूटि गई लोक-मरजादा फिरत सबै ही धाए
ज्ञान-ध्यान, जप, तप सब बिसरे आसन मुनिगन छाडे
आगम निगमनि के पण्डित, सब विरंचि बौराए"।[1]

7} <u>प्रेमपथ अथवा राजपथ</u> : बौद्ध-तांत्रिक साधना में सहज पथ सहजमार्ग, ऋजु मार्ग आदि सम्बोधन प्रेममार्ग {राजपथ} के लिए प्रयुक्त हुए हैं । यह एक ऐसा मार्ग है जो अत्यन्त सरल व सीधा कहा गया है । इसी सीधे मार्ग से "बोधि" की प्राप्ति होती है । सरहपा इस मार्ग के विषय में कहते हैं -

ऋजु रे ऋजु छाडि ना लेहु बंक
नियरे बोधि रे न जांहु रे लंक ।[2] - {सरहपाद}

यह मार्ग पाप-पुण्य रहित तथा सरल है इसलिए कण्डपा ने कहा -

निस्तरंग सम सहज रूप, सकल-कलुष विरहिए ।
पाप पुण्य रहित किछु नहिं, काण्हे फुर कहिए ।।[3] - {कण्डपा}

कृष्ण भक्ति काव्य में यह प्रेम मार्ग ही राजपथ है - इसलिए गोपियाँ उद्धव से इस सीधे मार्ग को {अपने ज्ञान के उपदेश के द्वारा} न रोकने के लिए कहती हैं -

---

1- चतुर्भुजदास {अष्टछाप स्मारक समिति, कांकरोली} पद - 74 - पृ0 38
2- हिन्दी काव्य धारा {राहुल सांकृत्यायन} - पृ0 19
3- हिन्दी काव्य धारा {राहुल सांकृत्यायन} - पृ0 147

"काहू को रोकत मारग सूधौ ।
सुरहू मधुप निरगुन कटंक तै, राजपंथ क्यौं रूंधौ"।[1]

क्योंकि इनका तो मानना है - "प्रेम भक्ति बिनु मुक्ति न होई" ।
ब्रज के लोगों की प्रीति रागात्मिका थी, वह विधि निषेध से परे है ।[2]

8) <u>महासुख अथवा महारस</u> : जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है - बौद्ध तांत्रिकों ने प्रज्ञा व उपाय की अद्वय-अवस्था को युगनद्ध नाम दिया । यह युगनद्ध है - दो का परस्पर एक हो जाना । दोनों के एकाकार होने की स्थितिको तांत्रिकों ने महासुख की प्राप्ति, समरसता महारस आदि नामों से पुकारा । इस प्रकार प्रज्ञा व उपाय का सम्मिलित स्वरूप महारस कहलाया -

जिमि नोन विलाय पानियहिं, तिमि घरनी लेइ चित्त ।
सम-रस जाये तत्क्षण, यदि पुनि सो सम नित्य ।
(कण्डपा - दोहाकोष)

कृष्ण भक्ति काव्य में इस महासुख रूपी भावना का निरूपण अनेक बार देखने को मिल जाता है - उदाहरणार्थ -

"अब मिलि कैसे विलगु होई मेरी सजनी,
दूध मिल्यौ जैसे पान्यौ ।
चत्रुभुज प्रभु मिलि हों, गिरिधर सों,
पहले ही पहिचान्यौ"।[3]

1- सूरसागर (ना0 प्र0 स0) - पद 3889 - पृ0 469
2- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - सूर साहित्य - पृ0 43
3- चतुर्भुजदास (जीवन, झांकी और पद संग्रह कांकरोली) - पृ0 27।

अथवा -

राधा सकुचि स्याम मुख हेरति ।
चन्द्रावली देखि कै आवत, ब्रज ही कौं पिय फेरति ।।
जाहु-जाहु मुख तैं कहि भाषति, कर तैं कर नहिं छूटत ।
उतहिं सखी आवत सकुचानी, इतहिं स्याम सुख लूटत ।।
दु:ख-सुख हरष कछु नहिं जानति, स्याम महारस माती ।
"सूर" उतहिं चंद्रावली इकटक, उनहीं के रंग राती ।।[1]

इसी प्रकार श्याम का श्यामा हो जाना व श्यामा का श्याम हो जाना भी बौद्धों की "समरसता" (अथवा प्रज्ञोपाय) के सिद्धान्त से साम्य रखता है - यथा -

देखिए - स्याम स्यामा, स्यामा स्याम ।
स्यामा स्याम हृदय महँ पूरन स्यामा नैन अभिराम ।।
स्यामा स्याम सु जग-पूरित, जोरी देखि लजित रतिभ्रम ।
"कृष्णदास" प्रभु गिरिधर स्यामा, स्यामा स्याम रसिकता धाम ।।[2]

9) <u>विपरीत रति</u> : जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, बौद्धों के तांत्रिक सम्प्रदायों में वामसाधना प्रचलित थी । वहाँ कहीं पुरूष को उपाय व स्त्री को प्रज्ञा, तो कहीं प्रज्ञा को पुरूष व उपाय को स्त्री माना गया । प्रज्ञा कहीं शक्ति है तो उपाय शक्तिमान, तो कहीं इसके विपरीत उपाय, शक्ति व प्रज्ञा, शक्तिमान के रूप में भी माने गए । मध्यकालीन कृष्ण भक्ति काव्य में भी यह भाव कृष्ण व राधा (व कृष्ण गोपियों के) के प्रेम प्रसंगों में आसानी से मिल जाता है -

---

1- सूरसागर (ना0 प्र0 स0) पद 2158 - पृ0 83
2- कृष्णदास (श्री द्वारकेश ग्रंथ माला : पुष्प 30) पद नं0 98 - पृ0 34

§1§ चलिए कुँवर कान्ह सखी वेष कीजे ।
देखो चाहो लाडिली कों अबहि देख लीजे[1] ।।

§2§ काहे कों तुम प्यारे सखी वेष कीनो ।
भूषन वसन साजे वीना कर लीनो ।।
मोतिन माँग गुही तुम कैसे ही प्यारे ।
हम नहिं जाने पहचाने कौन के दुलारे[2] ।।

इसी भाव की द्योतक सूर की ये पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं -

नागरि भूषन स्याम बनावत ।
श्री नागरि नागर शोभा अंग, कियौ निरखि मन भावत[3] ।।

और भी देखिए - राधा ने श्रीकृष्ण का रूप धारण किया -

"श्यामा कनक लकुट कर लीन्हे, पीताम्बर उर धारै ।
बचन परस्पर कोकिल बानी, स्याम नारी पति राधा,
"सूर" सरूप नारिपति काछे, पति तनु नारी साधा[4] ।।"

इस प्रकार हमने देखा कि बौद्ध तांत्रिक सिद्धों की तरह कृष्ण भक्ति में भी पुरुष §कृष्ण§ कहीं नारी §राधा§ बन जाते हैं तो कहीं नारी §राधा§ पुरुष §कृष्ण§ रूप धारण कर लेती है । यहाँ तक कि अष्टछापी कृष्ण भक्ति काव्य में इन कवियों ने स्वयं को भी कहीं नारी के रूप में रख कर कृष्ण को अपना एक मात्र पुरुष माना और उनकी वन्दना की । यही कारण है कि इन कृष्ण भक्तों के नाम के साथ कृष्ण की किसी न किसी सखि §स्त्री§ का

1- नन्ददास §सम्पा0 उमाशंकर शुक्ल§ पद 169 - पृ0 422
2- नन्ददास §सम्पा0 उमाशंकर शुक्ल§ पद 160 - पृ0 420
3- सूरसागर §ना0 प्र0 ग्र0§ - पद 2152 - पृ0 83
4- सूरसागर §ना0 प्र0 ग्र0§ - पद 2152 - पृ0 83

का नाम आता है । इस रूप में वे स्वयं को कृष्ण की सखी के रूप में अनुभव करते हैं । जैसे कुम्भनदास - विशाखा सखी, सूरदास - चंपक लता सखी, परमानन्ददास - चन्द्रभागा सखी, कृष्णदास - ललिता सखी, गोविन्दस्वामी - भामा सखी, छीतस्वामी - पद्मासखी, चतुर्भुजदास - विमला सखी और नन्ददास - चन्द्र रेखा सखी[1] । अष्टछाप के सखाओं के लीलात्मक स्वरूपों की दो प्रकार की स्थितियाँ हैं, वे दिन में ठाकुरजी ॥श्रीकृष्ण॥ के सखा रूप में उनकी वन-लीला का सुख प्राप्त करते हैं और रात में स्वामिनीजी की सखी रूप से निकुन्ज लीला के सुख का अनुभव करते हैं[2] ।

10॥ <u>अमर्यादित श्रृंगार</u> : कृष्ण भक्ति काव्य में आये श्रृंगारिक प्रसंगों के सन्दर्भ में जो अमर्यादा की बात आती है, उसका समुचित विश्लेषण करने के लिए अनिवार्य है कि हम श्रृंगार के इस रूप की पूर्व परम्परा को खोजें । यहाँ इस प्रकार की श्रृंगारिक परम्परा को ढूंढने के लिए जो प्रभावशाली आधार है वह है बौद्ध तांत्रिकों की राग साधना । बौद्ध धर्म ने जब तांत्रिक मोड़ लिया तो यहाँ वाम साधना का प्रवेश हुआ । "वाम" का एक अर्थ "स्त्री" भी होता है । जब "स्त्री" साधक की साधना का अंग बनी तब उसके प्रति अनुराग का विचार श्रृंगार के रूप में प्रस्फुटित हुआ, और आध्यात्मिकता की आड़ में लौकिक भोग विलास साधना में प्रवेश पा गया । जहाँ किसी प्रकार की मर्यादा के लिए अवकाश न रहा । ये तांत्रिक प्राय: जंगलों में अथवा पहाड़ों व निर्जन स्थानों पर अपनी साधना करते थे । अत: सामाजिक बन्धनों का भय उन्हें न था । किन्तु दुर्भाग्य से जब इनकी ये भोग परक विचारधारा सामाजिक क्षेत्र में जाने - अन्जाने प्रवेश कर गयी तब अदृश्य रूप में ही सही, इसका प्रभाव आम लोगों के विचारों को

1- दे0 डॉ0 हरबंशलाल शर्मा, सूर और उनका साहित्य - पृ0 276

2- दे0 डॉ0 हरबंशलाल शर्मा, सूर और उनका साहित्य - पृ0 276

प्रभावित करने लगा और जब इन्होंने इसे भक्ति के रूप में महिमा-मण्डित कर दिया तब समाज में यह रागसाधना सहज ही ग्राह्य कर ली गयी । इस सन्दर्भ में हम क्रमश: पहले बौद्ध तांत्रिकों की उक्तियों को लेंगे -

कण्डपा - एक न कीजै मन्त्र न तन्त्र,
निज घरनी लेइ केलि करन्त ।[1]

गुंडरीपा - तियड्डा चाँपि जोगिनि दे अँकवारी,
कमल-कुलिश घाँटि करहु बियाली ।[2]

कमरिपा - सासु नींदि गइल बहुवा जागै ।
कानेट चोरि लिय कागहिं माँगै ।।
दिवसहिं बहू काग डर खाय,
राति-भइले कामरूप जाय ।।[3]

सरहपा - जरइ मरइ उपजइ बध्यायइ ।
तहँ लय होइ महासुख सिध्यइ ।
सरहें गहन गह्वर मग कहिया ।
पशू लोक निर्बोध जिमि रहिया ।[4]

तिलोपा - जिमि विष भक्षि विषहिं प्रलुप्ता ।
तिमि भव भोगै भवहिं न युक्ता ।[5]

श्रीमद्भागवत में श्रृंगार का जो स्वरूप हम देखते हैं - वह इस प्रकार का है -

---

1- हिन्दी काव्य धारा - राहुल सांकृत्यायन - पृ0 149
2- हिन्दी काव्य धारा - राहुल सांकृत्यायन - पृ0 148
3- हिन्दी काव्य धारा - राहुल सांकृत्यायन - पृ0 145
4- हिन्दी काव्य धारा - राहुल सांकृत्यायन - पृ0 7
5- हिन्दी काव्य धारा - राहुल सांकृत्यायन - पृ0 175

"नधा पुलिन माविश्य गोपी भिर्हिमवालुलम्
रेमे तत्तरलानन्द कुमुदामोदवायुना ।।
बाहु प्रसारपरिम्भकरालकोरू -
नीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणा -
मुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयांचकार ।।

- भागवत् पुराण - 10 - 29 - 45 - 46

अर्थात् भगवान श्रीकृष्ण गोपियों के साथ यमुनाजी के पुलिन पर जो श्वेत बालू पर हिम समान चमक रही थी, चले गये । वहाँ वायु में कुमुदिनी की सुगन्ध से और शीतल तरंगों से ठण्डक थी । उस स्थान पर उस आनन्दमय वातावरण में भगवान ने क्रीड़ा की बाहें फैलाकर आलिंगन किया, और गोपियों के हाथों को दबाया । उनकी चोटी खैंची, जांघें दबाई, नीवी खैंची और स्तन छुए - नखों से कुरेदा, उनको आनन्दित करते रहे । जैसा कि हमने पहले कहा - पूर्वी प्रान्त के कवि जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास आदि बौद्ध सहजयानियों की परम्परा में आने वाले वैष्णव सहजिया भक्त थे, जो कि अपने पूर्व प्रभाव से सर्वथा अलग न होकर, गहरा साम्य लिए हुए थे । इनके ~~का~~ काव्य गीतों में बौद्ध तांत्रिकों की प्रज्ञोपाय साधना राधा माधव के राग सम्बन्धों में प्रस्तुत हुई । उदाहरण देखिए -

मुग्धे । विधेहि मयि निर्दयदन्तदंशं
दोर्वल्लिबन्धनिबिड़स्तनपीडनानि
चण्डि । त्वमेव मुदमंचय पंचबाण-
चण्डालकांडदलनादसवः प्रयान्ति ।।

-गीत गोविन्द - 10-10

अर्थात् हे । सुन्दरी आप मुझे निर्दयतापूर्वक दाँतों से काटिए आप मुझे भुजा रूपी लताओं से बाँध अपने कठोर स्तनों से दबाइये । मुझ अपराधी के लिए यही दण्ड है । हे चण्डी । आप ही मुझको प्रसन्न करे । चाण्डाल कामदेव

के वाणों से मेरे प्राण जा रहे है"[1] ।

अब हम आते हैं, कृष्ण भक्ति काव्य परम्परा में आने वाले अष्टछाप के कृष्ण भक्तों की रचनाओं पर । यहाँ हम प्रसंगवश पुन: कह रहे हैं कि भक्ति रागसाधना थी और रागसाधना में कृष्ण भक्तों ने श्रृंगार के सभी अंगों का वर्णन किया है । नन्ददास आदि ने तो नायिका भेद तक का निरूपण किया है । इन्हीं पुष्टि सम्प्रदाय के भक्त कवियों की रचनाओं पर हम इस परम्परा का प्रभाव खोजने के लिए उन्हीं की रचनाओं के कतिपय उदाहरण लेंगे, जो कि श्रृंगार के अमर्यादित स्वरूप के द्योतक हैं - उदाहरणार्थ -

परमानन्द सागर -

1) पौढे हरि झीनौ पट दै ओट ।
संग श्री वृषभानु-तनया सरस रस की मोट ।।
मकर-कुंडल अलक अरूझी हार गुजा-ताटंक ।
नील-पीत दोउ अदल-बदले लेत भरि-भरि अंक[2] ।।

2) कवन रस गोपिनि लीनों घूँटि ।
मदनगोपाल निकट करि पायो, प्रेम काम की लूटि ।।
देखत रूप ठगौरी लागी सकुच गई तनि छूटि ।
परमानन्द बेद सागर कीं मरजादा गई फूटि[3] ।।

3) हृदय-हृदय सों अधर अधर सों
नयन सों नयन मिलाई ।
भौंह-भौंह सों तिलक-तिलक सों
भुजनि भुजा लपटाइ ।।[4]

1- डॉ0 रामरतन भटनागर (धर्म संस्कृति और राज्य - पृ0 108 से साभार)
2- परमानन्द सागर (विद्याविभाग कांकरोली) - पृ0 358
3- परमानन्द सागर (विद्याविभाग कांकरोली) - पृ0 352
4- परमानन्द सागर (विद्याविभाग कांकरोली) - पृ0 325

5

<u>नन्ददास</u>[1] -

बिलसत बिविध बिलास हास नीवी कुच परसत ।
सरसत प्रेम अनंग रंग नव-धन ज्यौं बरसत ।।

॥रास पंचाध्यायी - 1 - 96॥

<u>गोविन्दस्वामी</u>[2] -

स्यामा स्यामा दोऊ कुंज में खेलें ।
अतिकोमल किसलय दल सिज्या बैठे अंस भुज निज मेलें ।।
हँसि-हँसि करत भाँवती बतियाँ प्रेम परस्पर मोद बढ़ावें ।
परिरम्भन चुबन आलिंगन सुरति समागम रति उपजावें ।। पद 518

<u>छीतस्वामी</u>[3] -

पौढ़ी श्री वृषभानु किसोरी नंद-नंदन के संग ।
कुसुम सेज अति मृदुल ताही पर जोरि रहि अंग-अंग ।।
अधर अमृत रस पीवति प्यावति छवि की उठत तरंग ।
छीत-स्वामी गिरिधरन रसिकवर प्यारी लई उछंग ।। पद 158

कृष्णदास[4] -

मोहयौ मोहन केलि-विलास ।
कुच विच भुज धरि ब्रजवर भामिनी
अरून अधर दसनावलि हास ।।
नव निकुंज-महँ हिलिमिलि कुलकत,
करत विविध रति-सुख उपहास ।। पद 696

1- श्रीरूपनारायण - नन्ददास, विचारक रसिक कलाकार - पृ0 159
2- गोविन्दस्वामी ॥वार्ता और पद संग्रह, विधाविभाग कांकरोली॥ - पृ0 195
3- छीतस्वामी ॥जीवनी और पद संग्रह, विधाविभाग, कांकरोली॥ - पृ0 68
4- कृष्णदास ॥पद संग्रह, विधाविभाग - कांकरोली॥ - पृ0 269

चतुर्भुजदास[1] -

पौढ़े प्रेम के परजंक ।
अधर-सुधा रस प्यावति प्यारी, कमलनि कौ जो अंक ।
पान करत अघात नाहीं ज्यौं निधि पाई रंक ।
"चत्रुभुज" प्रभु गिरिधर पिय जीते लूट्यौ मदन निसंक ।   पद 324

कुम्भनदास[2] -

राधा के संग पौढ़े कुंज-सदन में सहचरी सबै मिलि द्वारे ठाढ़ी ।
नंदनंदन कुँवर-वृषभान-तनया सौं करत केलि में जु रूचि बाढ़ी ।।
पिया अंग-अंग सौं लपटाई स्यामघन ।
पिय अंग-अंग सौं लपटाई स्यामा ।।
दोउ कर सौं कर परसि उरोज अति -
प्रेम सौं कियौ चुबन अभिरामा ।।   पद 301

सूरदास[3] -

वह छबि अंग निहारत स्याम ।
कबहुक चुंबन लेत उरजधरि, अति सकुचति तनु बाम
सनमुख नैन न जोरत प्यारी, निलज भए पिय ऐसे ।
हा-हा करति चरन कर टेकति, कहा करत ढँग नैसे ।
बहुरि काम रस भरै परस्पर, रति विपरीत बढ़ाई ।
सूर-स्याम रतिपति बिह्वल करि, नारि रहीं मुरझायी ।
(सूरसागर पद 3243)

नीबी ललित गही जदुराइ
जबहिं सरोज धरयौ श्री फल पर
तब जसुमति गई आई   (सूरसागर पद 682)

1- चतुर्भुजदास (जीवन झाँकी और पद संग्रह कांकरोली) - पृ0 157
2- कुम्भनदास (जीवन झाँकी और पद संग्रह कांकरोली) - पृ0 102
3- सूरसागर - पृ0 175

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर स्वत: स्पष्ट हो जाता है कि पुष्टिमार्गीय कृष्ण भक्ति में मर्यादाओं के लिए अवकाश नहीं है । श्रृंगार के सभी पक्षों का वहाँ निरूपण हुआ है । विशेष रूप से संयोग श्रृंगार में बौद्ध रागसाधना के सभी लक्षण प्रतिलक्षित होते हैं जो सामाजिक मर्यादाओं की अवहेलना करते प्रतीत होते हैं । "सांसारिक आनन्दों से विरत करनेवाली नैतिक कठोरता और आत्मत्याग इस सम्प्रदाय (पुष्टिमार्गी) के लक्षण नहीं मालूम पड़ते । स्वयं वल्लभाचार्य और उनके सभी उत्तराधिकारी विवाहित थे और इसी तरह यही स्थिति इस सम्प्रदाय के सभी गुरूवों की है जो अपने अनुयायियों से कम सांसारिक नहीं है"[1] । विलासिता की भक्ति का प्रतिफल ही था कि भक्ति के श्रृंगारिक सभी पक्षों का खुल कर प्रयोग हुआ और मर्यादाओं का अतिक्रमण करके भक्त जन कृष्ण राधा के केलि वर्णन का खुलकर निरूपण करने लगे । "वैष्णवों की कृष्ण भक्ति शाखा ने केवल प्रेमलक्षणा भक्ति ली । फल यह हुआ कि उसने अश्लील विलासिता की प्रवृत्ति जगाई"[2] ।

> जागि कुँवरि अपने घर आई, अपने गौने कुँवर कन्हाई ।
> सेज तैं उठी सुरति रस माती, सखि तन मधुर मधुर मुसकाती ।[3]

इसी प्रकार

> चुंबन समय जु नासिका, बेसरि मुती डुलाइ ।
> अधर छुड़ावन कौं मनौं, पिय की हा हा खाइ ।।[4]

1- डॉ0 आर0जी0 भण्डारकर - 'वैष्णव, शैव व अन्य धर्म - पृ0 122 पर
2- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ0 61
3- नन्ददास - सम्पा0 उमाशंकर शुक्ल - एम0ए0 - पृ0 26
4- नन्ददास - सम्पा0 उमाशंकर शुक्ल - एम0ए0 - पृ0 27

इस प्रकार कृष्ण भक्ति साहित्य में उत्तरोत्तर माधुर्य भाव भरा जाने लगा किन्तु वह माधुर्य अन्तत: मर्यादाओं का अति क्रमण कर गया । जिस प्रकार बौद्ध तांत्रिक साधकों की योग से प्रारम्भ होने वाली भक्ति भोग में परिवर्तित हो गयी उसी प्रकार कृष्ण भक्ति काव्य में माधुर्य भाव के उन्मुक्त प्रवाह ने मधुरा भक्ति को सर्वग्राह्य नहीं बनने दिया । "मनुष्य के पूर्ण रूप से सजग बनाने के लिए ऐसे साहित्य की आवश्यकता होती है जो उसको कर्तव्य पथ पर चालित करे और जीवन के प्रत्येक संघर्ष में विजयी होने की उमंग संचारित करे । कृष्ण भक्ति के साहित्य ने दूसरे पक्ष को क्रमश: गौण किया और अन्त तक एकदम भुला दिया । इसी का यह परिणाम हुआ कि इतना मधुर और महिम साहित्य उन्नीसवीं शताब्दी में एकदम क्षीण हो गया । वह साधारण गृहस्थों के काम की चीज नहीं रहा । उसमें जीवन संघर्ष से ऊबे हुए ऐकान्तिक प्रेमनिष्ठा के भक्तों का ही प्राधान्य हो गया"।[1] इस प्रकार कृष्ण भक्ति काव्य की सामाजिक उपयोगिता उसके अमर्यादित श्रृंगारिक स्वरूप के कारण क्षीण हो गयी । नन्ददास की ये पंक्तियाँ देखिए –

कुसुम सेज पोढे दंपति करत है रस बतियाँ ।
त्रिविध समीर सीयरी उसीर रावटी मध
खसखाने सीचे सुभग जुडावत हे पिय छतियाँ ।।
कपोल से कपोल दीये भुज सों भुज भीढे
कुच उतंग पिय राजत हे भतियाँ ।
नंददास प्रभु कनक पर्यंक पर सब सुख विलस
केलि करत मोहन एक गत मतियाँ ।।

और भी –

पिया-अंग-अंग में लपटाइ स्यामघन,
पिय अंग-अंग से लपटाई स्यामा ।
दोड कर सों कर परसि उरोज अति-
प्रेम सों कियो चुंबन अभिरामा ।।[2]

1- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, उद्भव और विकास - पृ० 138

2- कुम्भनदास, विद्या विभाग कांकरोली - पृ० 102

69

शृंगार का यह स्वरूप हम बौद्ध तांत्रिकों की युगल साधना {प्रज्ञोपाय} के अंतर्गत देख आये हैं । बंगाल से होती हुई यह बौद्ध राग साधना चैतन्य सम्प्रदाय के अनुयायियों द्वारा उत्तर भारतीय कृष्ण भक्ति काव्य में भी समा गई । इस प्रकार पुष्टिमार्ग में वर्णित अमर्यादित शृंगार बौद्ध राग-साधना के समीप है ।

{1} **रास** : भागवत्धर्म अथवा कृष्ण भक्ति के अन्तर्गत रास का भी विशेष महत्व है । पुष्टिमार्गी भक्ति का सर्वोत्तम रूप रास माना गया । रास समूह में होने वाला वह नृत्य है जो कृष्ण गोपियों के द्वारा ब्रजमण्डल में सम्पन्न होता था ।

रास में रसिक दोउ नाँचत आनंद भरि
गतािद्रिता तत ततथेई गतिबोले ।
अंग अंग विचित्र किए लाल काछनी सुदेस
कुंडल झलकत कपोल सीस मुकट डोले[1] ।।

"वह "युगल नृत्य" जो समूह में पुरूष व नारियों के बीच होता है, उस सामूहिक नृत्य को रास कहा जाता है । तांत्रिक बौद्ध साधना के अन्तर्गत "चक्र पूजा" का विधान है जहाँ साधक साधिकाएँ गोलाकार {चक्र} रूप में सामूहिक नृत्य करते थे । "तांत्रिक साधना में "रास" की भी तंत्रानुमोदित व्याख्या की गई है । "हँस-विलास" नामक तांत्रिक ग्रन्थ में रास का अर्थ करते हुए कहा है कि - आनन्द ब्रम्ह रूप है और वह इस देह में ही स्थित है । इस आनन्द का अभिव्यंजक "रास" है और इसमें तत्पर व्यक्ति रसिक कहलाता है । {आनन्दो ब्रम्हणों रूपं तच्चदेहे व्यवस्थितम् । तस्याभि व्यंजको रासो, रसिकस्तत्परायणः} "हंस विलास" से ऐसा ज्ञात होता है कि उस काल में रास की मान्यता एक विशिष्ट तांत्रिक मत के रूप में होती

1- नन्ददास - सम्पादक उमाशंकर शुक्ल एम0ए0 - पृ0 435 पर

थी, जिसमें वैदिक मत को निम्नतम और रास मत को उच्चतम स्थान दिया गया था। उसके सम्बन्ध में हंसविलास का कथन है - वैदिक मत से वैष्णवमत, वैष्णवमत से दक्षिण मार्ग, दक्षिण मार्ग से वाममार्ग, वाममार्ग से सिद्ध मत और सिद्धमत से रास मत उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है"।[1] डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय का मत है - हंस विलास में जो कुछ कहा गया है, वह स्पष्ट ही रास की तांत्रिक व्याख्या है, परन्तु वह वैष्णव सिद्धान्त से दूर नहीं है, क्योंकि रास मण्डल का प्रतीकात्मक अर्थ ही वैष्णव परम्पराओं में स्वीकृत है। हंस विलास स्पष्ट कहता है कि तांत्रिक साधक रति क्रीडा करते थे और वैष्णव उसका गायन करते हैं। गायन भी सुरति ही है - "गायनमात्रमेव सुरतम"। यही कारण है कि वैष्णव भक्त ध्यान द्वारा राधाकृष्ण की अश्लील रति क्रीडा को देखकर लज्जित नहीं होते। वे उसे देव-लीला मान कर प्रसन्न हो-होकर देखते हैं और जन्म-जन्मान्तर देखते रहना चाहते हैं। इसके लिए वे ज्ञानियों की भी निन्दा करते हैं। वैष्णव भक्तों की युगल उपासना तांत्रिकों की ही यामल (युगल) उपासना से प्रेरित है"।[2]

आचार्य वल्लभ के सिद्धान्त में (पुष्टिमार्ग में) रास लीला का महत्व स्पष्ट करते हुए कहा गया है - समस्त श्रुति-शास्त्रों में जितने भी उत्तम फल कहे गये हैं, उन सबमें उत्तम-सर्वोत्तम फल-रूप श्री कृष्ण की रास लीला ही है। इसी से श्री आचार्यजी श्री भागवत की रास पंचाध्यायी वाले अध्यायों को "फलप्रकरण" से निरूपित करते हैं। दश इन्द्रिय और ग्यारहवें मन में भगवान् के स्वरूप आनन्द का उपभोग हो इससे बढ़कर कोई फल नहीं है, और यह फल रासलीला में ही प्राप्त हो सकता है"।[3]

इस रासलीला का वर्णन प्रायः सभी कृष्ण भक्त कवियों ने किया है जो बौद्ध तांत्रिकों की युगल साधना से प्रभावित जान पड़ता है - कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं -

----

1- हंस विलास - पृ० 139 (यहाँ प्रभुदयाल मीतल - ब्रज के धर्म सम्प्रदाय - पृ० 132 से साभार)

2- दे० संत वैष्णव काव्य पर तांत्रिक प्रभाव - पृ० 144 और भूमिका पृ० 5

3- श्री सर्वोत्तम - व्याख्याता - गोस्वामी श्री व्रजभूषण शर्मा - पृ० 101 पर

रास-रस गोविन्द करत विहार ।
सूर-सुता के पुलिन-मधि मानों फूले कुमुद कल्हार ।।
अद्भुत सतदल विकसित मानों, जाही जुही निवार ।
मलय पवन वहै सरद - पूरन चंद, मधुप - झंकार ।।
सुघरराइ संगील कला - निधि मोहन कुमार ।
ब्रज-भामिनि संग प्रमुदित नाचत, तन चरचित घनसार ।।
उभय सुरूप सुभगता सीवां, कोक कला सुखसार ।
कुंभनदास-प्रभु स्वामी गिरिधर पहिरे रसमय हार ।।[1]

भावार्थ इस प्रकार है - रास में गोपाललाल और भामिनी संग नाच रहे हैं । नृत्य में कन्धे पर श्री हस्त रखने से ऐसा प्रतीत होता है - मानों श्याम तमाल से कोई कनक लता लिपट गई हो । उरप-तिरप, लाग दाट आदि नृत्य के भेद एवं मृदंग की ध्वनि में जैसा सरस राग जमा है, वैसी ही शरद पूर्णिमा खिल उठी है । गिरिधर को नटवर-भेष धारण किये देखकर कोटि-कोटि कामललनाएँ लज्जित हो जाती है ।

और भी -

कालिंदी के कूल मनोहर खेलत जुवतिनि संग ।
रास - विनोद नंदनंदन पिय भीजहिं रति रस रंग ।।[2]

इस प्रकार रास व बौद्धों की युगल रस साधना एक ही है, राग साधना ही रास व युगनद्ध के रूप में प्रचलित थी ।

1- कुम्भनदास - विद्याविभाग कांकरोली प्रकाशन - पृ0 26
2- कृष्णदास - विद्याविभाग कांकरोली प्रकाशन - पृ0 212

7§ निर्वाण :

बौद्ध धर्म में निर्वाण का प्राचीन अर्थ है बुझना । अत: जैसे दीपक का बुझना उसका निर्वाण है, ठीक इसी तरह आत्मा का अनन्त अथवा शून्य में विलय, उसका निर्वाण कहा गया । किन्तु तांत्रिक बौद्ध परम्परा में निर्वाण की जगह समरसता की प्राप्ति साधना का लक्ष्य स्वीकृत की गई । अत: यह प्राचीन निर्वाण नहीं है अपितु समरसता का पर्याय रूप है । निर्वाण - अर्थात् दो का अभेद भाव से मिलना । जैसे पानी और नमक अथवा नदी का सागर में मिलना । इस प्रकार मन का अमन हो जाना निर्वाण कहा जाने लगा । बौद्ध साधक इसी निर्वाण पद को पाने की अभिलाषा रखता है । कण्हपा की यह उक्ति इसी तथ्य की ओर संकेत करती है -

निश्चल निर्विकल्प निर्विकार । उदय अस्तमन रहित सु-सार ।।
ऐसो सो निर्वाण भनिज्जै । जहँ मन मानस कछु न किज्जै ।।
§दोहाकोष - 20§

मध्यकालीन कृष्ण भक्ति काव्य के अन्तर्गत भी भक्तों ने इस निर्वाण पद को पाने की अभिलाषा व्यक्त की है, किन्तु उनका मानना है कि प्रभु सेवा के बिना निर्वाण को पाना सम्भव नहीं । अर्थात् श्रीकृष्ण की सेवा, उनके नाम का गुणगान, पूजा अर्चना आदि करके ही निर्वाण पद पाया जा सकता है -

कहा निगम कहि गावतौ, जहँ मुनि धरतै ध्यान ।
दरस-परस बिनु नाम गुन, को पावै निर्बान ।।
§सूरसागर§

कृष्ण भक्ति में जो सायुज्य मुक्ति है वह भी कृष्ण में §आराध्य में§ सर्वात्मभावेन विलीन होने की पर्याय है । कृष्ण भक्ति में जो यह मुक्ति है, उसमें भी आत्मा का परमात्मा में अन्तर्लीन हो जाना स्वीकार किया गया है ।

73

इस प्रकार तांत्रिक परम्परा में निर्वाण (समरसता) तथा कृष्ण भक्ति में प्राप्त सायुज्य अथवा सारूप्य) मुक्ति दोनों में समानता देखी जा सकती है ।

8) **सारांश** :

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हमने पाया कि बौद्धों के तांत्रिक यानों में प्रचलित रागसाधना व मध्यकालीन पुष्टिमार्गी कृष्ण भक्ति काव्य की युगल साधना में गहरा साम्य है । राधा कृष्ण की श्रृंगार लीला का अगर कोई सीधा सम्बन्ध कहीं से मिलता है तो पूर्वी भक्तों से । महाप्रभु चैतन्यदेव जो जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास इन तीनों कवियों के काव्य के रसिक थे, वृन्दावन आये और उन्होंने ही उसे नया रूप दिया । इनके अनेक शिष्य वहाँ आजीवन के लिए रह गये थे और उस सम्प्रदाय के कितने ही भक्त परवर्ती हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध कवि भी हुए[1] । अतः बौद्ध तांत्रिकों की रागसाधना वैष्णव सहजियाओं से चैतन्य व चैतन्य से होती हुई उत्तरी भारत के कृष्ण भक्ति काव्य तक पहुँची । महायानी तांत्रिक सम्प्रदायों की रागसाधना थोड़े-बहुत फेरबदल के साथ वैष्णवों की कृष्ण भक्ति में प्रविष्ट हुई । राधा-कृष्ण के प्रेम को लेकर कृष्ण भक्ति की जो काव्य धारा चली उसमें लीला, छेड़छाड़, मिलन की युक्तियाँ आदि बाहरी बातों का ही वर्णन है ।[2] वैष्णव धर्म शास्त्रीय धर्म की अपेक्षा लोक धर्म ही अधिक है । हिन्दी साहित्य के लोग गीतों में इसका प्रवेश वल्लभाचार्य के बहुत पहले ही हो गया था । इन्हीं गीतों का विकसित व सुसंस्कृत रूप सूरसागर के अन्तर्गत विद्यमान है । अन्य सभी अशास्त्रीय या लोक-धर्मों बौद्ध-जैन यहाँ तक कि उपनिषदों के धर्म की भाँति इसकी जन्मभूमि भी बिहार, बंगाल और उड़ीसा के प्रान्त हैं । वल्लभाचार्य या चैतन्य देव प्रभृति ने इस लोक धर्म को शास्त्र सम्मत रूप दिया । ज्यों ही उसने एक बार शास्त्र का सहारा पाया त्योंही विद्युत की भाँति इस छोर से उस छोर तक फैल गया, क्योंकि असल में उसके लिए क्षेत्र बहुत पहले से ही

1- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - सूर-साहित्य - पृ0 96

2- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ0 159

तैयार था । जब शास्त्र सम्मत होकर इसने अपना पूरा प्रभाव विस्तार किया तो अलंकारियों और रसाचार्यों ने भी इसको अपने शास्त्र का अवलम्बन बनाया । असल में यह कहीं बाहर से आयी हुई चीज नहीं थी, भारतीय साधना की जीवन शक्ति के रूप में यह धारा नाना रूपों में प्रकट हुई थी । मध्ययुग के वैष्णव धर्म ने इसे जो रूप दिया वह महायान भक्ति का विकसित और मार्जित रूप था ।[1] तब पूछिए तो उत्तर कालीन वैष्णव धर्म पर महायान बौद्ध धर्म का प्रभाव बहुत अधिक है । × × × × हिन्दी वैष्णव धर्म का सम्बन्ध महायान से होते हुए भी वह वल्लभाचार्यजी के नाम से पुकारा गया ।[2]

उपर्युक्त विश्लेषण तथा अधिकारी विद्वानों के समर्थन के आधार पर हम कह सकते हैं कि पुष्टिमार्गीय कृष्ण भक्ति बौद्ध धर्म (अथवा बौद्ध तांत्रिक धर्म) के प्रभाव से शून्य नहीं कही जा सकती, अपितु जैसा कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मानना है - "जिस प्रकार पुत्र का सम्बन्ध पिता की अपेक्षा माता से रहता है और जिस प्रकार माता के रक्त-मांस का अधिक भागधेय होने पर भी पुत्र पिता के नाम से ही प्रसिद्ध होता है, वैसे ही हिन्दी वैष्णव धर्म का सम्बन्ध - महायान से अधिक होते हुए भी वह वल्लभाचार्य के नाम से पुकारा गया ।[3]

आगे के अध्यायों में हम कृष्ण भक्ति परम्परा में आने वाले अन्य प्रमुख सम्प्रदायों पर बौद्ध धर्म का प्रभाव खोजने का प्रयत्न करेंगे । जिसमें क्रमशः राधा-वल्लभीय तथा हरिदासी सम्प्रदाय आते हैं ।

1- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - सूरसाहित्य - पृ0 97 - 98

2- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - सूरसाहित्य - पृ0 92

3- सूर साहित्य - पृ0 92